नागार्जुन द्वारा हिन्दी में अनूदित 'विद्यापति पदावली' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

एम. फिल. उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध

शोध-निर्देशक

प्रो. चमन लाल

शोधार्थी

शेफालिका शेखर

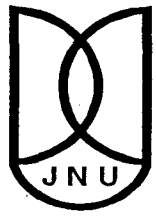

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवहारलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

2008

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre Of Indian Languages
School Of Language, Literature & Culture Studies
NEW DELHI-110067, INDIA

Dated: 29/07/2008

DECLARATION

I declare that the work done in this dissertation entitled *"NAGARJUNA DWARA HINDI MEIN ANUDIT VIDYAPAPATI PADAVALI KA VISHLESHNATMAK ADHYAYAN"* **(THE ANALYTICAL STUDY OF HINDI TRANSLATION OF 'VIDYAPATI PADAVALI' BY NAGARJUNA)** by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

Shephalika Shekhar
(Research Scholar)

PROF. CHAMAN LAL
(Supervisor)
Centre Of Indian Languages
SCHOOL OF LANGUAGE, LITERATURE & CULTURE STUDIES
NEW DELHI-110067, INDIA

PROF. CHAMAN LAL
(Chairperson)
Centre Of Indian Languages
SCHOOL OF LANGUAGE, LITERATURE & CULTURE STUDIES
NEW DELHI-110067, INDIA

GRAM : JAYENU, Tel: (91-011)] 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217 Fax: (91-011)26717603, 26717586

बाबा-माय, नूनू बाबू-माय

और

माँ-पापा को . . .

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

भूमिका I - V

पहला अध्याय 1–33

विद्यापति और नागार्जुन का साहित्यिक परिचय

क. विद्यापति का साहित्यिक परिचय

ख. नागार्जुन का साहित्यिक परिचय

दूसरा अध्याय 34–61

अनुवाद की सामाजिक–सांस्कृतिक भूमिका और अनुवाद की समस्याएँ

क. अनुवाद की सामाजिक–सांस्कृतिक भूमिका

ख. अनुवाद की समस्याएँ

तीसरा अध्याय 62–113

नागार्जुन के द्वारा हिन्दी में अनूदित 'विद्यापति पदावली' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

क. हिन्दी और मैथिली का भाषिक और संस्कृति अंतर्संबंध

ख. पदावली के विविध अनुवाद

ग. नागार्जुन के द्वारा हिन्दी में अनूदित 'विद्यापति पदावली' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

उपसंहार 114–116

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची 117–122

भूमिका

आज विश्वभर में अनुवाद की आवश्यकता को स्वीकार किया जा रहा है। खासकर भूमण्डलीकरण और बाज़ारवाद के इस दौर में अनुवाद की महत्ता से असहमत नहीं हुआ जा सकता। बाज़ारवाद के प्रभाव से भाषिक विडंबना की स्थिति सामने आती है, जिसका समाधान अनुवाद प्रस्तुत करती है।

प्रत्येक देश की अलग भाषा होती है। प्रत्येक भाषा की अलग संस्कृति होती है। किसी भी देश की संस्कृति को वहाँ के साहित्य के माध्यम से जाना जा सकता है। भाषा विशेष का ज्ञान न होने से उसके साहित्य का अध्ययन असंभव है। अतः किसी भी साहित्य को पढ़ने के लिए अनिवार्य शर्त है उस भाषा का ज्ञान।

विभिन्न तरह के अनुवादों में साहित्यिक अनुवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। साहित्यिक अनुवाद, अनुवाद के तमाम प्रकारों में विशिष्ट है। यह विशिष्टता काव्यानुवाद पर सबसे अधिक लागू होती है। साहित्य की अन्य तमाम विधाओं के बरक्स काव्यानुवाद सर्वाधिक चुनौतीपूर्ण होने के साथ-साथ रुचिकर भी है।

विद्यापति की पदावली पढ़ते हुए कोई भी सहृदय उसकी सहजता, कोमलता, संगीतात्मकता, लयात्मकता, भावात्मकता को देखकर कायल हो जायेगा। विद्यापति के गीतों को समझने के बाद उनके प्रति एक आकर्षण होता है और एक मैथिली भाषी के लिए यह आकर्षण स्वाभाविक भी है। मिथिलांचल की संस्कृति, वहाँ का लोकजीवन, ग्रामीण शब्द, मुहावरे, मिथक और मैथिली भाषा की मधुरता अनायास ही पाठकों को अपनी ओर खींच लेते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं है कि विद्यापति की पदावली में इन सभी तत्त्वों का समागम हुआ है। इस लघु शोध-प्रबंध को तीन अध्यायों में विभक्त किया गया है-

पहला अध्याय- 'विद्यापति और नागार्जुन का साहित्यिक परिचय' है। इस अध्याय के दो भाग हैं। पहले भाग में मैथिल कोकिल विद्यापति का भारतीय

साहित्य में योगदान है और लोक भाषा मैथिली को साहित्यिक भाषा बनने की प्रक्रिया पर विचार किया गया है। अध्याय के दूसरे भाग में कवि नागार्जुन के साहित्यिक अवदान पर चर्चा की गई है। उनकी रचनाओं में संस्कृत और ठेठ 'मैथिली' दोनों का किस प्रकार सामंजस्य मिलता है, इस पर विचार किया गया है।

दूसरा अध्याय- 'अनुवाद की सामाजिक सांस्कृतिक भूमिका और काव्यानुवाद की समस्याएँ' है। इस अध्याय के भी दो भाग हैं। पहले भाग में इस बात पर विचार किया गया है कि कैसे मानव-सभ्यता के विकास में अनुवाद की महत्वपूर्ण भूमिका है और दुनिया के तमाम देशों की सभ्यता-संस्कृति को क़रीब से जानने-समझने में अनुवाद किस प्रकार सहायक होता है। दूसरे भाग में काव्यानुवाद की समस्या पर बात की गई है। काव्यानुवाद संभव है या नहीं- इस पर भी संकेत रूप में बात की गई है।

तीसरा अध्याय- 'नागार्जुन के द्वारा हिन्दी में अनूदित 'विद्यापति पदावली' का विश्लेषणात्मक अध्ययन' है। इस अध्याय के तीन भाग हैं। पहला भाग 'हिन्दी और मैथिली का भाषिक और सांस्कृतिक अंतर्संबंध' है। भाषिक और सांस्कृतिक स्तर पर दोनों भाषाओं में कितनी समानता और भिन्नता है, यह समझने की कोशिश इस भाग में की गई है। दूसरे भाग में 'विद्यापति पदावली के विविध अनुवाद' पर बात की गई है। अध्याय का तीसरा और अंतिम भाग है 'नागार्जुन द्वारा हिन्दी में अनूदित 'विद्यापति पदावली' का विश्लेषणात्मक अध्ययन'। शोध-प्रबंध का यह अंतिम भाग पदावली की विभिन्न दृष्टियों से जाँच-पड़ताल करता है। नागार्जुन ने यह अनुवाद क्यों किया? अन्य विद्वानों ने 'विद्यापति पदावली' को किस तरह से ग्रहण किया है? नागार्जुन ने कैसा अनुवाद किया है? साथ ही इस काव्यानुवाद में अनुवादक मिथिला की संस्कृति और पदावली के मूल भाव का संप्रेषण पाठकों तक कर पाया है या नहीं इन

सब पर विस्तार से चर्चा की गई है। लघु शोध-प्रबंध के उपसंहार में निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

इस शोध-प्रबंध में आधार ग्रंथ के रूप में 'नागार्जुन रचनावली-3' को रखा गया है। इसके अलावा 'बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्' से प्रकाशित पदावली के तीनों खण्डों की भी मुख्य भूमिका रही। विद्यापति पदावली के अनेक संकलन और अनुवाद किये गये हैं। उन संकलनों और अनुवादों का अध्ययन कर यह शोध-प्रबंध लिखा गया है। मिथिला की संस्कृति पर लिखते हुए पुस्तकों की मदद तो ली ही गई साथ ही अपना अनुभव भी बहुत उपयोगी रहा, जिसका जिक्र मैंने समय-समय पर किया है।

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध में हिन्दी-मैथिली और अंग्रेजी में उद्धरण दिये गये हैं। हिन्दी और मैथिली के उद्धरण हू-ब-हू ले लिये गये हैं, किन्तु अंग्रेजी उद्धरण को कई स्थानों पर मैंने हिन्दी में अनुवाद कर प्रस्तुत किया है। कुछ स्थलों पर मूल अंग्रेजी उद्धरण देना ही उचित लगा ताकि बात बिल्कुल स्पष्ट हो सके। मैथिली और हिन्दी में कार्य करते हुए दोनों भाषाओं में उद्धरण देना ज़्यादा उचित लगा।

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध कई शुभेच्छुओं की मदद से विभिन्न चरणों से गुजरते हुए संपन्न हुआ।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, साहित्य अकादमी के पुस्तकालयों की मैं आभारी हूँ, शोध-कार्य के दौरान यहाँ से महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्राप्त हुई। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा प्रकाशित 'विद्यापति पदावली' को पढ़कर अनसुलझी बातें साफ हुईं। मैं ज.ने.वि. के भारतीय भाषा केन्द्र के अनस साहब, शमशेर जी और रावत जी की भी आभारी हूँ, जिन्होंने कार्यालय संबंधी कार्यों को आसानी से करने में मदद की।

विषय चयन, समयानुसार महत्त्वपूर्ण सुझाव, देश-दुनिया, समाज को देखने की नई दृष्टि और शोध को अंतिम रूप देने में डॉ. चमन लाल का

विशेष योगदान रहा। उनके इसी योगदान से यह शोध-प्रबंध पूरा भी हो रहा है। कभी भी किसी प्रकार का अतिरिक्त दबाव उन्होंने मेरे ऊपर नहीं डाला।

डॉ. रणजीत साहा के परामर्श विषय चयन में काफी सहायक रहे। इन्द्रप्रस्थ कॉलेज के उन तमाम शिक्षकों की ऋणी हूँ जिनसे बहुत कुछ सीखने को मिला।

जे.एन.यू. चीजों को देखने-परखने की नई दृष्टि देता है, इस दृष्टिकोण के लिए कक्षा व्याख्यान और यहाँ के माहौल सर्वाधिक जिम्मेदार है। उन सभी शिक्षकों के प्रति कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे कई चीजों की समझ दी और तर्क करना भी सिखाया।

अरविन्द जी, प्रभात जी, श्रीधरम जी, प्रोमिला जी की आभारी हूँ। इनसे कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें उपलब्ध हुईं।

तपस दा, अवधेश, मीरा, सुचेता, संदीप, रवि, विस्मय, राधी, मोबीन, विशाल, राफे, राग़ीब, चंद्रसेन को भी धन्यवाद, इन्होंने समय-समय पर बहुत मदद की है।

हनी, वंदना, सुनीता, अभिषेक, कौशल, अजय, नीलांबुज, रंजीत, मनीष को धन्यवाद जिनसे कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव प्राप्त हुए।

अरविन्द और प्रभात जी मैथिली और अंग्रेज़ी के अच्छे जानकार हैं, जब भी परेशानी होती थी तो इनका सर खाती थी। मोना, अ़लंकार, राखी दी, उमा दी, ने भी कई तरह के टिप्स दिये जो बहुत उपयोगी रहे। मगर इन्हें कोई धन्यवाद नहीं।

अमिष, मार्तण्ड, और अभिषेक ने मेरे साथ बैठकर अपना सिर खपाया, कभी पदावली को समझने में, कभी विद्वानों के मत के खंडन में, कभी प्रूफ करने में। इनको भी किसी तरह का धन्यवाद नहीं।

कनिका, नूर, श्वेता और पल्लवी सभी की अलग-अलग भागीदारी है इस शोध-प्रबंध के पूरा होने में। श्वेता हर वक्त मेरे साथ थी। इनके प्रति भी आभार या धन्यवाद कुछ भी नहीं।

भैया के सहयोग, प्रेम और विश्वास के बिना कुछ भी कर पाना संभव न था। शांतनु की झूठी फटकार और शरारत ने तनाव को कम किया।

नानी, माँ और नन्हें मामा से विद्यापति को बचपन से इतना सुना है कि पदों को पढ़ते हुए कई पदों के स्वर कानों में गूँजते लगते थे। इनसे चर्चा कर विद्यापति के गीत का काफी कुछ समझ पाई। पान चाचा की धूल भरी पुस्तकों में मेरे काम की सामग्री भरी पड़ी थी। माँ-पापा ने हमें पढ़ाने के लिए जो हिम्मत किया है, मुझे उस पर फ़र्क है।

शेफालिका शेखर

पहला अध्याय

विद्यापति और नागार्जुन का साहित्यिक परिचय

क. विद्यापति का साहित्यिक परिचय

ख. नागार्जुन का साहित्यिक परिचय

(क) विद्यापति का साहित्यिक परिचय

मैथिल कोकिल विद्यापति को भारतीय साहित्य के निर्माता के रूप में जाना जाता है। विद्यापति भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ कवि हैं। कालक्रम को ध्यान में रखकर यदि बात करें तो विद्यापति आदिकाल के कवि ठहरते हैं। हालांकि किसी भी कवि को देश–काल की सीमाओं तक तय कर देना उसके कवित्व के साथ अन्याय होगा। फिर महाकवि के संबंध में ये बातें और खटकती हैं। किंतु चौदहवीं शताब्दी के जिस संघर्षपूर्ण माहौल में कवि ने अपनी उत्कृष्ट रचनाओं से भारतीय साहित्य को समृद्ध किया, वह अत्यंत सराहनीय है।

विद्यापति को 'संधि का कवि' कहा गया है। कई बातों को ध्यान में रखकर उन्हें ऐसा कहा गया। विद्यापति की भाषा को यदि लें तो वहाँ भाषा के कई रूप मिलते हैं। कवि ने कई भाषाओं में रचनाएँ की। पुरानी संस्कृत में, अवहट्ट में (संस्कृत, अपभ्रंश, मैथिली के मिश्रित रूप में) और बाद में लोक भाषा मैथिली में। प्रत्येक भाषा की अपनी संस्कृति होती है, उसकी अलग दुनिया होती है। इस प्रकार कवि ने तीन भाषाओं की संस्कृति को एक साथ साहित्य में समेटा।

विद्यापति के यहाँ भाषा के साथ–साथ भाव के भी अलग–अलग रूप दिखाई पड़ते हैं। इनके यहां शृंगार और भक्ति दोनों भाव साथ–साथ मिलते हैं। एक ही प्रेम जो सांसारिक (लौकिक) होता है, वही आलंबन के भेद पर ईश्वरीय (अलौकिक) हो जाता है। मानव मन की दो प्रवृत्तियाँ होती हैं– राग और द्वेष। राग दो आत्माओं को निकट लाता है। राग जब अनुभव के स्तर पर आता है तो यह अनुराग हो जाता है। यानि राग का अनुगामी अनुराग होता है। यही अनुराग व्यक्ति विशेष के प्रति मुड़कर प्रेम हो जाता है। प्रेम की सर्वप्रमुख विशेषता उसकी अनन्यता है। प्रेम व्यक्ति केंद्रित होता है। जब यही प्रेम ईश्वर की ओर मुड़ता है तो वह भक्ति में तब्दील हो जाता है।

कई विद्वानों ने विद्यापति की रचनाओं में प्रेम व शृंगार का विस्तार भक्ति तक पाया है। 'शैवसर्वस्वसार', 'दुर्गा भक्ति तरंगिनी', 'गंगावाक्यावली' इत्यादि ग्रंथ उनके

भक्ति भाव को ही दर्शाता है। पदावली में शृंगारी भाव तथा कुछ ग्रंथों में उनका भक्त रूप उन्हें संधि के कवि के रूप में स्थापित करता है।

विद्यापति को एक अन्य अर्थ में भी संधि का कवि माना जाता है। इनकी रचनाओं में शिव और राधा–कृष्ण दोनों के वर्णन मुख्यतः पदावली में मिलते हैं। इनकी पदावली में राधा–कृष्ण लीला के पद और शिव की स्तुति के पद उपस्थित हैं। अतः यहाँ भी भक्ति की दो अलग–अलग धाराओं का एक साथ समावेश दिखाई पड़ता है।

पदावली में कवि ने पहली बार वयः संधि की कविता लिखी है। विद्यापति अकेले ऐसे कवि हैं जिन्होंने शैशवावस्था और यौवनावस्था के ऊपर कविताएँ लिखी हैं–

"सैसव जोवन दुहु मिलि गेल। स्रवनक पथ दुहु लोचन लेल।।
वचनक चातुरि लहु–लहु हास। धरनिये चान कएल परगास।"[1]

स्पष्ट है कि कवि ने नायिका के शैशव और यौवन के संधिकाल का बख़ान किया है। शैशव और यौवन के संधि के पद के अलावा भी इन्होंने जीवन और मृत्यु की संधि के भी पद लिखे हैं। ये पद पाठकों पर अद्‌भुत प्रभाव छोड़ते हैं।

तातल सैकत बारि–बिन्दु–सम सुत–नित–रजनि–समाज।
तोहि बिसारि मन ताहि समरपल आब होएब कोन काज।।
माधव हम परिणाम निरासा।[2]

मानव भाव के प्रत्येक रूप के पद पदावली में हैं। शैशवावस्था, यौवनावस्था जीवन का मध्यकाल, वृद्धावस्था आदि जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन पदावली में है। अतः महाकवि के साहित्यिक स्वरूप की छानबीन करने पर इन्हें संधि का कवि कहना अनुचित नहीं लगता।

विद्यापति के यहाँ एक साथ परस्पर कई तरह के एकदम विरोधी विचार भी मिलते हैं। विद्यापति की इसी परस्पर विरोधी विचारधारा को ध्यान में रखते हुए शिवप्रसाद सिंह लिखते हैं– "विद्यापति का व्यक्तित्व नाना प्रकार की परस्पर विरोधी

विचारधाराओं का स्तबक है। इस व्यक्तित्व में इस प्रकार का परस्पर विरोध संभवतः उस युग का परिणाम है जिसमें विभिन्न प्रकार की देशी–विदेशी सांस्कृतिक विचारधाराएँ संघर्षरत थीं। विद्यापति वस्तुतः संक्रमण काल के प्रतिनिधि कवि हैं, वे दरबारी होते हुए भी जन–कवि हैं, शृंगारिक होते हुए भी भक्त हैं, शैव या शाक्त या वैष्णव कुछ भी होते हुए भी वे धर्म–निरपेक्ष हैं।"[3] विद्यापति के यहाँ एक साथ जीवन के कई रूप मिलते हैं। इसलिए इन्हें संधि का भी कवि कहा जाता है और संक्रमण काल का प्रतिनिधि कवि भी।

मैथिली साहित्य के इस महाकवि को लेकर विद्वानों में कई बातों को लेकर विवाद है। जैसे इनकी रचना भक्तिपूर्ण है या शृंगारिक? ये शैव थे या वैष्णव? इनके यहाँ संयोग शृंगार की अधिकता है या वियोग शृंगार की? यहाँ तक की इनकी वंशावली एवं जन्म को लेकर भी विद्वानों में पर्याप्त विवाद है। इन सभी विवादों में आम सहमति बस इस बात पर हो पाई है कि विद्यापति बिहार के मैथिली भाषा के कवि हैं न कि बंगाल के या 'ब्रजबुलि' के।

विद्यापति के जन्म को लेकर अब तक विद्वानों में आम सहमति नहीं बन पाई है। परन्तु इतना भर तय है कि इनका जन्म बिहार के दरभंगा जिला में हुआ जो कि मिथिलांचल के अंतर्गत आता है। "मिथिला उत्तर से हिमालय, दक्षिण से गंगा, पश्चिम से गंडक एवं पूरब से कौशिकी नदी से घिरा है। इस क्षेत्र में प्रमुखतः चम्पारण, मुजफ्फरपुर, दरभंगा, सहरसा, पुर्णिया, उत्तरी मुंगेर के अलावा नेपाल का तराई इलाका आता है।"[4] दरभंगा के बिसफी नामक गांव में विद्यापति का जन्म हुआ था। जन्म स्थान को लेकर तो नहीं, जन्मतिथि को लेकर पर्याप्त विवाद है। इनके जन्म के विषय में कहीं भी कोई लिखित साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। न तो कवि ने किसी रचना में इसका वर्णन किया है। जनश्रुति के आधार पर ही विद्वानगण कुछ अंदाजा लगाते हैं। "किस ईसवी की किस तारीख में विद्यापति ने जन्म लेकर मिथिला को ही नहीं संपूर्ण भारत को गौरवान्वित किया, इसका कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं। किंतु, देवसिंह की मृत्यु और शिवसिंह के सिहांसनाधिरोहण के संबंध में विद्यापति का ही एक प्रसिद्ध

पद है, जिससे पता चलता है कि लक्ष्मण संवत् 293 शाके 1324 अर्थात् 1402 ई. में देवसिंह की मृत्यु हुई और शिवसिंह गद्दी पर बैठे। मिथिला में प्रवाद है कि शिवसिंह उस समय 50 वर्ष के थे और विद्यापति उनसे दो वर्ष बड़े थे, अर्थात् विद्यापति की अवस्था उस समय 52 वर्ष की थी। यही एक आधार है, जिसके कवि का जन्म 1350 ई. में होना निश्चित होता है।"[5] अन्य कई विद्वानों का भी यही मानना है कि 1350 ई. में महाकवि का जन्म हुआ था। विद्यापति पदावली के संपादक श्री रामवृक्ष बेनीपुरी का भी मानना है कि महाकवि का जन्म 1350 ई. में ही हुआ है। डॉ. सुभद्र झा, प्रो. रमानाथ झा व पं. शिवनाथ झा आदि विद्वानों ने विद्यापति के ही प्रसिद्ध को "अनल रन्ध्र कर लक्खण शरवइ" को आधार मानकर तथा जनश्रुति को ध्यान में रखकर विद्यापति का जन्म 1350 ई. ही माना है।

लिखित साक्ष्य की अनुपलब्धता की स्थिति में विश्वसनीय प्रमाण तथा जनश्रुति को आधार बनाकर ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। अतः विद्यापति का जन्म 1350 ई. माना जा सकता है। हालांकि विवाद इस पर भी है। दूसरे समूह की मान्यता के अनुसार जन्मतिथि 1360 ई. तथा विद्वानों के एक समूह के अनुसार 1380 ई. है। आम सहमति किसी भी तिथि पर नहीं है। कुल मिलाकर यही माना जा सकता है कि सन् 1350 ई. से 1380 ई. के बीच में ही इनका जन्म हुआ है।

आदिकालीन और भक्तिकालीन कवियों के प्रसंग में किंवदंतियों, जनश्रुतियों तथा लोककंठ की सहायक भूमिका होती है। लिखित साक्ष्य के अभाव में पाठक तथा आलोचक किंवदंतियों, जनश्रुतियों को नजरअंदाज नहीं कर पाता। प्रामाणिक और लिखित साक्ष्य मौजूद नहीं होने पर किंवदंतियों, जनश्रुतियों को कई बार आधार भी बनाना पड़ता है, कई बार इन पर विचार भी करना पड़ता है।

विद्यापति के संबंध में भी कई किंवदंतियाँ तथा जनश्रुतियाँ मिथिलांचल में सुनने को मिलती हैं। एक बात अक्सर सुनने को मिलती है कि राजा शिवसिंह की सुन्दर पत्नी लखिमा देवी से महाकवि को प्रेम था। एक अन्य कथा भी बहुत प्रसिद्ध है

कि विद्यापति की भक्ति–भावना से प्रसन्न होकर भगवान् शिव उनके यहां 'उगना' नामक नौकर बनकर रहने लगे थे।

इन दोनों किंवदंतियों में सच्चाई कितनी है, कहा नहीं जा सकता। किंतु 'लखिमा' और 'उगना' दोनों के नाम से मिथिला में पद गाये जाते हैं।

रानी लखिमा स्वयं भी कवयित्री थीं। वे अधिकतर विरह गीत लिखा करती थीं। इन विरह गीतों के आधार पर कुछ आलोचकों का यह मानना है कि रानी लखिमा विद्यापति के विरह में ये गीत लिखा करती थीं। "सहजिया संप्रदाय के वैष्णव भक्त विद्यापति को अपने सात श्रेष्ठ रसिक भक्तों में एक मानते हैं। इन सातों में प्रथम विल्वमंगल है, जिन्होंने यौवनारंभ में चिंतामणि वेश्या से प्रेम किया था, बाद में विरक्त होकर बहुत बड़े भक्त हुए। उनका विश्वास है कि इसी तरह विद्यापति का राजा शिवसिंह की पत्नी लखिमा से गुप्त प्रेम था।"[6] विद्यापति रानी लखिमा से प्रेम करते थे– इसका आधार विद्यापति के वैसे पदों को माना गया है जिसमें लखिमा का नाम है। इस बात को तय करने का क्या केवल यह आधार ठीक है? विद्यापति राजा शिवसिंह के दरबारी कवि थे। रानी लखिमा देवी शिवसिंह की प्रिय पत्नी थी। संभव है कि इसी कारणवश रानी लखिमा देवी के नाम भी उनके पदों में बार–बार आते हैं। अधिकांश पदों में यही देखा गया है कि राजा शिवसिंह के साथ ही इनका नाम भी आया है। उदाहरण स्वरूप कुछ पदों को देखा जा सकता हैं–

जुगल सैल–सिम हिमकर देखल एक कमल दूइ जोति रे।
फुललिमधुर फुल सिंदूर लोटाइलि पाँति बइसलि गज–मोति रे।
आज देखल जत के परिआएत अपुरूब बिहि निरमान रे।।
तथहु मनोहर बाजन बाजए जागए मनसिज भूप रे।।
भनइ विद्यापति पुरूबक पुन तह ऐसनि भजए रसमन्त रे।।
बुझए सकल रस राजा शिवसिंह लखिमा देइ केर कन्त रे।।[7]

इसी तरह के कई और भी पद हैं जहां शिवसिंह और लखिमा दोनों का वर्णन है। कई पदों में तो राजा शिवसिंह नायक और रानी लखिमा नायिका के रूप है। एक उदाहरण–

सहजहि आनन सुन्दर रे भौंह सुरेखलि आँखि।
पंकज मधु पिबि मधुकर रे उड़ए पसारल पाँखि
– – – – – – – –
विद्यापति कवि गाओल रे रस बूझए रसवंत।
रूपनरायण नागर रे लाखिमा देइ सुकंत।[8]

अधिकांश पदों में राजा–रानी का जिक्र साथ–साथ ही आया है। कहीं–कहीं लखिमा देवी का जिक्र अकेले भी आया है। इसी संदर्भ में विमान बिहारी मजूमदार लिखते हैं– "पदावली के 198 पदों में शिवसिंह–लखिमा का नाम आता है। लखिमा का नाम बहुत से पदों में शिवसिंह के साथ आया है, कुछ में केवल शिवसिंह का।"[9] इस बात में कोई संदेह नहीं है कि विद्यापति सौदर्य के कवि हैं। बहुत संभव है कि रानी की सुंदरता पर मोहित होकर कवि ने कविता लिखी हो। शिवप्रसाद सिंह लिखते भी हैं– "विद्यापति सौंदर्य कवि थे। सौंदर्य को उन्होंने देखा था, अनुभव किया था। ... सौंदर्य उनके लिए सबसे बड़ा धर्म है, सबसे बड़ा कर्म है। सौन्दर्य उनकी आँखों के सामने नाना रूपों में दिखाई पड़ते हैं।"[10] विद्यापति शृंगारिक कवि हैं। प्रेम के कवि हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह प्रेमी कवि सौंदर्योपासक भी है।

रामवृक्ष बेनीपुरी ने महाकवि के पदों का संपादन किया है। भूमिका में इन्होंने भी इस प्रसंग को उठाया है। उनका मानना है कि ऐसी किंवदंतियाँ यथार्थ नहीं हैं। उन्होंने लिखा है– "रानी का नाम पदों में देने से लोगों ने उलटा–सीधा बहुत कुछ अनुमान किया है। किंतु यथार्थ बात तो यों है कि विद्यापति ने जहाँ कहीं किसी राजा का नाम दिया है, वहाँ साथ–ही–साथ उसकी स्त्री का नाम भी दिया है। ...विद्यापति के पदों में लखिमा के अतिरिक्त शिवसिंह की अन्य रानियों के भी नाम आये हैं। संभवतः लखिमा देवी ही पटरानी रही हों, या इन्हीं पर राजा की अधिक आसक्ति रही

हो।"[11] दरबारी कवि राजाओं की रूचि उनके पसंद–नापंसद को ध्यान में रखकर ही रचना करते थे। आलोचकों के मतों को ध्यान में रखकर तो यह नहीं लगता है कि विद्यापति का लखिमा देवी से प्रेम था। मगर इतना अवश्य है कि इनके पदों में लखिमा देवी का वर्णन आता रहा है।

मिथिला क्षेत्र में एक अन्य प्रसिद्ध किंवदती है 'उगना' को लेकर। मिथिला में यह किंवदंती है कि भगवान् शिव इनकी भक्ति पर मुग्ध थे और भगवान् इनके घर आकर नौकरी करने लगे। एक दिन विद्यापति कहीं जा रहे थे, रास्ते में उन्हें जोरों की प्यास लगी। उगना आदेशानुसार कहीं से पीने का पानी लेकर आया। पानी पीते ही कवि को यह पानी गंगाजल–सा लगा। विद्यापति के पूछने पर कि जल कहां से लाया है उगना ने कहा पास के गांव से। विद्यापति को यकीन नहीं हुआ। बहुत कहने–सुनने पर उगना अर्थात् शिव ने विद्यापति से वचन लिया कि इस सत्य को वह कहीं भी उद्घाटित नहीं करेगा। जिस दिन यह सत्य कहीं उद्घटित होगा मैं अदृश्य हो जाऊँगा। उगना को लेकर विद्यापति के व्यवहार में परिवर्तन हो गया। विद्यापति उगना को कोई भी नीच काम नहीं करने देते थे। एक दिन उनकी पत्नी ने उगना को कुछ खरीदने के लिए कहीं भेजा। उगना को आने में देरी हो गई। गुस्से में आकर वे उगना को मारने लगी। यह सब देखते ही विद्यापति स्वाभाविक रूप से बोल उठे अरे ये साक्षात् शिव हैं; इनपर प्रहार न करो। उसी समय उगना अदृश्य हो गया। विद्यापति ने उगना के विरह में एक गीत गाया जो बहुत प्रसिद्ध हुआ –

"उगना रे मोर कतए गेला। कतए गेला सिथ कीदहु भेला।।
भाँग नहि बटुआ रूसि बैसलाह। जोहि हेरि आनि देल हँसि उठलाह।।
जो मोर कहता उगना उदेस। ताहि देवओं कर कँगना बेस।।
नंदन बन में भेटत महेस। गौरि मन हरखित मेटेल कलेस।।
विद्यापति भन उगना सों काज। नहि हितकर मोर त्रिभुवन साराज।।"

इस किंवदंती से विद्यापति की शिव भक्ति और स्पष्ट होती है। वैसे भी विद्यापति ने शिव–संबंधी कई पदों की रचना की है।

लोक में 'उगना' अर्थात् 'शिव' की कथा तो प्रसिद्ध है, किंतु कवि विद्यापति को लेकर आलोचकों में विवाद है कि वे भक्त कवि हैं या शृंगारिक? यदि भक्त कवि थे तो किस देवी–देवता की भक्ति में रचना करते थे? सामान्यतः ऐसे विषय पर चर्चा करते हुए विद्यापति की पदावली को ही आधार बनाया जाता है। वैसे 'शैव सर्वस्वसार' और 'दुर्गाभक्ति तरंगिनी' की भी उन्होंने रचना की है, जिनके नाम से ही लगता है कि ये भक्तिपरक रचनाएं होंगी।

विद्यापति हिन्दी साहित्य में आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल की समन्वित चेतना के कवि हैं। आदिकालीन दरबारी संस्कृति, भक्तिपरक कविताएँ एवं रीतिकालीन शृंगारिक काव्य का एक साथ मिश्रण इनके यहां है। विद्यापति के काव्य को अलग–अलग विद्वानों ने काव्य की अलग–अलग कोटि में रखा है। डॉ० जार्ज ग्रियर्सन, डॉ. नगेन्द्र नाथ गुप्त, डॉ. श्यामसुन्दर दास, आनंदकुमारस्वामी, डॉ. जनार्दन मिश्र, ब्रजनन्दन सहाय आदि विद्वानों ने महाकवि की कविताओं को भक्ति काव्य के अंतर्गत रखा है। डॉ. ग्रियर्सन ने विद्यापति की पदावली को आधार बनाकर राधा को जीवात्मा तथा कृष्ण को परमात्मा का प्रतीक माना है। "राधा और कृष्ण वस्तुतः प्रतीक हैं। राधा जीवात्मा का प्रतीक है और कृष्ण परमात्मा का। जीवात्मा परमात्मा से मिलने के लिए निरंतर प्रयत्नशील है। ...जीवात्मा अपने सांसारिक प्रपंचों एवं माया के पाशों में इस प्रकार आबद्ध है कि वह अपनी आंतरिक प्रेरणा से परमात्मा को प्राप्त करने का प्रयास नहीं करता। इसीलिए उसे ईश्वरोन्मुख करने के लिए गुरू की आवश्यकता होती है। विद्यापति के काव्य में दूती इसी गुरू का प्रतीक है। यह दूती जीवात्मा या प्रेमिका को निरन्तर परमात्मा से मिलने के लिए प्रेरित करती रहती है। इतना ही नहीं, इस अभिसार या प्रेम–मिलन के प्रत्येक कार्य में वह उसकी सहायता भी करती है।"[12]

आश्चर्य है कि कैसे ग्रियर्सन ने राधा–कृष्ण संबंधी पदों को अध्यात्म से जोड़ते हुए राधा को जीवात्मा, कृष्ण को परमात्मा और दूती को गुरू रूप में ग्रहण किया है। राधा–कृष्ण संबंधी पद विशुद्ध प्रेम के पद हैं; उनमें न तो जीवात्मा–परमात्मा का

सवाल उठता है, न ही गुरू का। एक पद को उदाहरण स्वरूप लेकर यह सरलता से समझा जा सकता है कि ये पद शृंगार के ही हैं –

"कि कहब हे सखि आजुक विचार।
से सुपुरूष मोहि कएल सिंगार (?)।।
हँसि–हँसि पहु आलिंगन देल।
मनमथ अंकुर कुसुमित भेल।।
आँचर परसि पयोधर हेरू।
जनम पंगु जनि भेटल सुमेरू।।
जन निबि–बंध खसाओल कान।
तोहर सपथ हम किछु जदि जान।
रति–चिन्हे जानल कठिन मुरारि।
तोहर पुने जीअलि हमें नारि।
कह कवि–रंजन सहल मधु राई।
न कह सुधामुखि गेल चतुराई।"[13]

इस पद को कोई भी काव्य–पाठक शृंगार के पद के रूप में ही स्वीकार करेगा। यहाँ नायिका अपनी सखी को संयोगावस्था के बारे में बता रही है। राधा–कृष्ण संबंधी पद के सूत्र कहीं से भी अध्यात्म या रहस्यवाद से नहीं जुड़ते। जार्ज ग्रियर्सन ही नहीं, और भी कई विद्वानों ने विद्यापति के काव्य में रहस्यवाद को ढूँढ़ निकाला है। आनंदकुमार स्वामी भी इसी मत का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं– "विद्यापति का काव्य गुलाबों का काव्य है, चारों ओर गुलाबों से परिवृत यह आनंद–निकुंज है। यहाँ हमें स्वर्ग का दर्शन होता है। वृन्दावन की कृष्ण लीला शाश्वत है। वृन्दावन मनुष्य का हृदय–प्रदेश है। यमुना का किनारा इस संसार का प्रतीक है जो राधा और कृष्ण अर्थात् जीव और ईश्वर की लीला–भूमि है। वंशी की ध्वनि अदृश्य सत्ता का स्वर है, जीव को परमात्मा की ओर अग्रसर होने का आह्वान है।"[14] ग्रियर्सन की ही भाँति कुमारस्वामी भी विद्यापति के पदों को अध्यात्म से जोड़कर

देखते हैं जिसका कोई आधार नहीं है। कृष्ण–राधा का नाम प्रयोग भर होने से मूल भाव की पड़ताल किये बिना उसे अध्यात्म से जोड़ देना ठीक नहीं। इस धारा के प्रतिक्रियास्वरूप कई विद्वानों ने अपने स्वर को तेज किया और कवि विद्यापति को भक्त कवि नहीं शृंगारी कवि कहा। विनय सरकार, डॉ० रामकुमार वर्मा, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, डॉ० सुभद्र झा, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विद्यापति को शृंगारी कवि के रूप में स्वीकार किया है। इनमें से कई विद्वानों ने विद्यापति की भक्त छवि को नकारते हुए उन्हें शृंगारी कवि माना है। विनय सरकार उनके काव्य को सीधे मानव संबंधों से जोड़ते हुए लिखते हैं– "ऐन्द्रिक भावना का मानवीय संबंधों के बीच इतना सुंदर सम्मिश्रण और इतने ऊँचे स्तर का चित्रण भारतीय साहित्य में विद्यापति के अतिरिक्त और किसी ने प्रस्तुत नहीं किया है।"[15] विद्यापति के काव्य में जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के वर्णन के साथ–साथ प्रेम की भी सभी दशाओं का वर्णन है।

विद्यापति के यहाँ राधा–कृष्ण के प्रेम का जो वर्णन है, वह एक शृंगारी कवि ही कर सकता है। कवि ने कई पदों में कामदेव, काम केली, रति क्रीड़ा आदि का वर्णन किया है। नायिका वर्णन भी जिस स्तर का है उसे भक्ति से नहीं जोड़ा जा सकता है। राधा के अंग–प्रत्यंगों का जो वर्णन है क्या उनकी गणना भक्ति के पदों में की जा सकती है?

पहिलें बदरि कुच पुन नवरंग। दिन–दिन बाढ़ए पिड़ए अनंग
से पुन भए गेल बीजकपोर। अब कुच बाढ़ल सिरिफल जोर
माधव पेखल रमनि संधान। घटहि भेटलि करइत असनान।
तनसुक सुबसन हिरदय लाग। जे पए देखव तिन्हकर भाग।
उर हिल्लोलित चाँचर केस। चामर झाँपल कनक महेस।
भनइ विद्यापति सुनह मुरारि। सुपुरूख बिलसए से–बर मारि।[16]

विद्यापति को भक्त कवि मानने वाले और उनके काव्य में अध्यात्म या रहस्यवाद जैसे तत्त्वों को ढूँढ़ निकालने वाले विद्वानों को लक्ष्य करते हुए आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है– "आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गये हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने गीतगोविन्द के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी।"[17]

बहरहाल इस मुद्दे पर विचार करते हुए, विद्यापति के पदों को देखते हुए विद्यापति को भक्त कवि तो नहीं कहा जा सकता है। वैसे यह विषय एक लंबी बहस की मांग करता है जो यहाँ संभव नहीं है। उस बहस में जाने पर जयदेव के गीतगोविन्द की भी जाँच करनी होगी, क्योंकि विद्यापति को जयदेव की ही परंपरा में माना जाता है।

विद्यापति बंगाली हैं या बिहारी? इस बिन्दु पर भी पर्याप्त विवाद होता आया है। विद्यापति की प्रसिद्धि पदावली से सर्वाधिक हुई। पूर्वांचल क्षेत्र में पदावली को अभी भी गाया जाता है। "बिहार, बंगाल, असम, उड़ीसा एवं नेपाल में उनके पद इतने लोकप्रिय हुए कि वहाँ वालों के वे अपने हो गये। बंगाल में तो चैतन्य महाप्रभु और उनके अनुयायी वैष्णवों ने विद्यापति के पदों को इस तरह अपनाया कि वहाँ के परवर्ती कवियों ने उनकी भाषा–शैली की नकल की ओर हजारों पद लिख डालें। धीरे–धीरे ऐसा भी समय आया कि बंगालियों ने उन्हें बिल्कुल अपना लिया–आत्मसात् कर लिया।"[18] बिहार, बंगाल, असम, नेपाल के श्रोताओं ने इस पद को अपने–अपने हिसाब से ग्रहण किया। आज पदावली इन प्रदेशों में अपने मूल स्वरूप से परिवर्तित रूप में प्राप्त होती है। मध्यकालीन समाज में विद्यापति के पदों की लोकप्रियता इस कदर थी कि कइयों ने विद्यापति नाम से लिखना शुरू कर दिया। खासकर बंगाल में इन पदों को खूब गाया जाने लगा। "मिथिला से बाहर सबसे अधिक प्रचार बंगाल में हुआ। महाप्रभु चैतन्य के कानों में जब विद्यापति के पद पहुँचे तब वे आत्मविभोर हो गये। ...उनके अनुयायियों में विद्यापति के पदों का खूब प्रचार हुआ। केवल प्रचार ही नहीं हुआ, बाद में विद्यापति की भाषा–शैली के अनुकरण पर अनेक बंगाली कवियों ने संख्यातीत पदों की भी रचना कर डाली।"[19] मिथिला के बाहर पूर्वांचल में विद्यापति के गीतों की धूम मच गई। विद्यापति के पद लोककंठ से ही प्राप्त किये गये हैं। अतः

बंगाल के विद्यार्थी जब यहाँ पढ़ने आते थे, विद्यापति के पदों को अपने साथ ले जाते थे। बंगाल के लोग पदों को मैथिली के जिस 'टोन' के साथ गाते थे वह मैथिली का वास्तविक 'टोन' नहीं होता था और जहाँ उन्हें थोड़ी–बहुत परेशानी होती थी, वहाँ अपनी सहूलियत के हिसाब से बांग्ला के शब्द फिट कर देते थे। बाद में तब इन पदों का पूर्ण बंगालीकरण हो चुका था। मिथिला और बंगाल का सांस्कृतिक संबंध पुराना है। भौगोलिक दृष्टि से भी इनका एक ही क्षेत्र है, मगर बंगालियों ने जिस तरह से मैथिल कवि को अपनाना चाहा वह अद्‌भुत है। इन्होनें तो विद्यापति का नाम भी बदल दिया और उन्हें 'वसन्तराय' बना दिया।

इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि किस प्रकार बंगाल में विद्यापति के पदों का स्वरूप ही बदल दिया गया। उदाहरण स्वरूप मिथिला में प्राप्त पदावली और बंगाल में प्राप्त पदावली का पाठ भेद देखा जा सकता है –

मिथिला में प्राप्त पदावली

"कि कहब हे सखि! आनन्द–ओर।
चिर–दिने माधव मन्दिर मोर।।
दारूण ऋतुपति जत दुख देल।
हरि–मुख हेरइते सब दुर गेल।।
जतहु अछल मझु हृदय साध।
से सब पूरल हरि–परसाद।।
रसभ–आलिंगने पुलकित भेल।
अधरक पाने विरह दुर गेल।।
भनइ विद्यापति सुन वरनारि।
सुजनक दुःख दिवस दुइ–चारि।।"[20]

बंगाल में प्राप्त पदावली

"कि कहब रे सखि! आनन्द – ओर।
चिर – दिने माधव मन्दिरे मोर।।
पाप सुधाकर यत दुःख देल।
पिया – मुख – दरशने तत मुख भेल।।
तब हाम पिया दूर देशे ना पाठाइ।
आँचर भरिया यदि महानिधि पाइ।।
शीतेर ओढ़नी पिया गिरीषीर बा ।।
भणये विद्यापति शुन वरनारि।
सुजनक दुःख दिवस दुइ – चारि।।"[21]

दोनों पदों में साफ–साफ दिख रहा है कि किस तरह पदों को बंगाली रूप दिया गया है।

विद्यापति की बंगाली छवि को तोड़ने में कुछ विद्वानों ने सराहनीय कार्य किया। सर्वप्रथम राजकृष्ण मुखोपाध्याय ने 1875 ई. में सप्रमाण साबित किया कि विद्यापति बंगाली नहीं; मैथिल बिहारी थे। इससे पहले जॉन बीन्स ने 1873 ई. में विद्यापति का असली नाम वसन्तराय बताया तथा इनका निवास स्थान जसोहर जिले का 'बालोसर' गाँव बताया था।[22] हालांकि राजकृष्ण मुखोपाध्याय के प्रमाण प्रस्तुत करने के उपरांत जॉन बीम्स ने अपनी गलती स्वीकार कर ली किंतु बंगालियों ने इसे नहीं माना।

सन् 1881 ई. में सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी विद्यापति को बिहारी सिद्ध किया। "सन् 1881 ई. में सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने, जो उस समय दरभंगा जिले के मधुबनी – सबडिवीज़न के मजिस्ट्रेट थे, मैथिल ब्राह्मणों के पंजी–प्रबंधन का अनुसंधान करके अपने 'मैथिली क्रिस्तोमेथी' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ में विद्यापति के प्राक्तन सात पुरूषों के और अधस्तन बारह पुरूषों के नाम प्रकाशित नहीं किये। सम्प्रति विद्यापति

के अधस्तन चौदहवें और पन्द्रहवें पुरूष वर्तमान हैं।"[23] दरभंगा जिले का वंश–वृक्ष तैयार करते हुए जार्ज ग्रियर्सन ने स्पष्ट कर दिया कि विद्यापति बिहारी थे और मिथिला के थे।

राजकृष्ण मुखोपाध्याय और जार्ज ग्रियर्सन के कथन पर विचार करने से तो यह लगता ही है कि महाकवि बिहार के थे, साथ ही लोककथन भी इस बात की पुष्टि करते हैं। कुल मिलाकर विद्यापति को बंगाली के बजाय बिहारी कवि कहना ही अधिक समीचीन होगा।

भारतीय आर्य भाषाओं को विकासक्रम की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा गया है।

(1) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा –	वैदिक – लौकिक संस्कृत
(2) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा –	पालि, प्राकृत, अपभ्रंश
(3) आधुनिक भारतीय आर्यभाषा –	मैथिली, हिन्दी, बंगाली, आसामी, उड़िया, गुजराती, मराठी आदि।

कवि विद्यापति की रचनाओं की छानबीन करने पर एक बात स्पष्टतः रेखांकित की जा सकती है कि प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक भारतीय आर्यभाषा के तीनों रूपों में इन्होंने रचनाएँ की हैं।

प्राचीनकालीन ग्रंथों को देखने पर पता चलता है कि उस समय संस्कृत में ही रचनाएँ की जाती थी। संस्कृत आम जनता की समझ के बाहर की भाषा थी। अतः रचनाएँ समाज के उच्च वर्ग को ही ध्यान में रखकर की जाती थीं। जनता की माँग से धीरे–धीरे पालि, प्राकृत, अपभ्रंश में भी रचनाएँ की जाने लगीं।

विद्यापति ऐसे कवि हैं जिन्होंने संस्कृत, अवहट्ट और मैथिली तीनों भाषाओं में रचनाएँ की। मैथिली की रचना बहुत बाद में की। वैसे सिद्ध साहित्य में भी मैथिली के स्वरूप परिलक्षित होते हैं। मैथिली को साहित्यिक मान्यता बहुत बाद में मिली। इसके विकास में संस्कृत ने खासी बाधा पहुँचाई। राधाकृष्ण चौधरी का मानना है कि

"हालाँकि मैथिली के स्वतंत्र रूप से पनपने के रास्ते में संस्कृत ने एक बाधक के रूप में ही काम किया है। इसकी खास वजह शायद यही रही होगी कि जिस कारण 'थॉमस मोर' ने 'यूटोपिया' अंग्रेजी के बजाय लैटिन में लिखा या फिर 'रघुनाथ शिरोमणि' ने 'चिन्तामणि दिधिति' बंगाली के बजाय संस्कृत में लिखा। वस्तुतः यह साफ बात है कि मैथिली का स्वतंत्र रूप से विकास के बाद भी क्यों मिथिला के विद्वान मैथिली के बनिस्पत संस्कृत का इस्तेमाल ज्यादा करते थे। एक बड़ा जनसमूह संस्कृत भी समझता था, इसके बाद भी विद्वानों द्वारा इसी भाषा का इस्तेमाल होता था क्योंकि मैथिली को अपभ्रंश (Fallun Language) माना जाता था। तथापि प्राचीनकाल में मैथिली में कोई भी महानतम रचना संभव नहीं हो पाई।"[24] सोची–समझी राजनीति के तहत साहित्यिक रचनाओं में अन्य भाषाओं को जगह नहीं दी जा रही थी। उच्च वर्ग कभी नहीं चाहते थे कि निचले तबके तक साहित्यिक रचना की पहुँच हो पाए। एक बड़े जनसमूह को शिक्षा से वंचित रखने के लिए ही लोक भाषाओं को संस्कृत 'स्पेस' नहीं दे रही थी। बावज़ूद इसके लोकभाषा में रचनाएँ होने लगीं क्योंकि जनसमूह की यही चाहत थी। "यह बात ध्यातव्य है कि संस्कृत द्वारा छोड़े गए खाली जगह (Gap) में भी मैथिली साहित्य को प्रस्फुटित होने का खास मौका नहीं मिला, संस्कृत आम जनता के लिए मुश्किल ही बनती जा रही थी। यह निचले तबके के दबाव का ही नतीजा था कि विभिन्न प्रांतों में अलग–अलग प्रादेशिक भाषाओं का प्रचलन बढ़ता ही जा रहा था; जबकि कट्टर पंडित इसके साफ खिलाफ थे।"[25]

विद्वानों के खिलाफ में रहने के बावजूद भी लोकभाषा में रचनाएँ होने लगीं तथा लोकप्रिय भी हुईं। संस्कृत के एकछत्र राज को तोड़ने में विद्यापति का सर्वाधिक योगदान है। मातृभाषा मैथिली में कवि ने ऐसी रचना की कि इनके पूर्ववर्ती कवियों पर इसका स्पष्ट प्रभाव दिखता है। भक्तिकालीन कवियों ने भी जनभाषा में ही रचना की। भक्तिकाल की सबसे बड़ी उपलब्धि थी कि सभी कवियों ने अपनी–अपनी मातृभाषा में रचना की। सूर ने ब्रज में, तुलसी ने अवधी में, मीरा ने राजस्थानी में, जायसी ने

अवधी में मैथिली साहित्य पर तो विद्यापति का प्रभाव है ही हिन्दी साहित्य पर भी इनका समुचित प्रभाव है।

कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका की रचना कवि ने उस समय की प्रचलित भाषा संस्कृत में न करके देशी भाषा अवहट्ट में की और पदावली तो उन्होंने मातृभाषा मैथिली में लिखी। श्री दुर्गानाथ झा इस संबंध में लिखते हैं– "आधुनिक भारतीय भाषाक इएह सर्वप्रथम महाकवि छथि जे संस्कृत साहित्यिक अभेद्य गढ़के ँ तोडि भाषा में काव्यरचनाक साहस कएल।"[26] कीर्तिलता की भाषा पर विचाार करें तो इस ग्रंथ की भाषा संस्कृत–प्राकृत मिश्रित मैथिली है। महाकवि इस भाषा को अवहट्ट कहते हैं। कीर्तिलता में कवि ने अवट्ट के विषय में लिखा है –

"देसिल बअना सब जन मीठा।
ते तैसन जम्पओं अवहठा।"

इसका मतलब है – देशी भाषा सबको मीठी लगती है। इसलिए अवहट्ट भाषा में मैंने इसकी रचना की।

कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका की भाषा से सभी बड़े प्रभावित हुए। इस भाषा को सबने बहुत पसंद किया। कीर्तिलता की रचना जिस समय कवि ने की थी उस समय आमतौर पर काव्य भाषा के रूप में संस्कृत का ही प्रचलन था। संस्कृत छोड़ कवि ने अवहट्ट में रचना की और कीर्तिलता के प्रथम पल्लव में लिखा–

"बालचंद विज्जावइ भासा।
दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर सोहइ।
इ निच्चय नाअर मन मोहइ।।"

आलोचकों ने महाकवि की इन पंक्तियों के विषय में कहा है कि इस पद के एक-एक शब्द से कवि का अभिमान टपकता है।[27] काव्य भाषा के रूप में संस्कृत

स्थापित थी। बहुत संभव है कि संस्कृत के विद्वानों की प्रतिक्रिया को ध्यान में रखकर कवि विद्यापति ने लिखा होगा कि उनकी भाषा पर दुष्टों की हँसी नहीं लग सकती।

विद्यापति संस्कृत का भी सम्मान करते थे। उनकी ज्यादातर रचनाएँ संस्कृत में ही हैं– 'भूपरिक्रमा', 'पुरूष-परीक्षा', 'लिखनावली', 'शैवसर्वस्वसार', 'शैवसर्वस्वसार-प्रमाण-भूतपुराण संग्रह', 'गंगावाक्यावली', 'विभागसार', 'दानवाक्यावली', 'दुर्गाभक्ति तरंगिनी', 'गयापत्तलक', 'वर्षकृत्य' आदि। डॉ. बजरंग वर्मा का मानना है कि विद्यापति द्वारा संस्कृत में रचित केवल पाँच ग्रंथ प्रामाणिक हैं– 'भू-परिक्रमण', 'पुरूष-परीक्षा', 'लिखनावली', 'विभागसार' और 'दुर्गाभक्तितरंगिनी'। वैसे 'शैवसर्वस्वसार', 'गंगावाक्यावली' को विद्यापति की महत्वपूर्ण रचनाओं में गिना जाता है।[28]

'भू-परिक्रमण' की रचना कवि ने महाराज देवसिंह की आज्ञा से की। इस ग्रंथ में बलदेव द्वारा की गई 'भू-परिक्रमा' का वर्णन है। नैमिषारन्य से मिथिला तक के सभी तीर्थ स्थलों का वर्णन इसमें है।

'पुरूष-परीक्षा' की रचना महाराजा शिवसिंह की आज्ञा से की गई है। इस ग्रंथ में पुरूषों को परखने के अनेक उपाय दिये गये हैं। यह ग्रंथ समाजशास्त्रियों, इतिहासकारों, मानव वैज्ञानिकों, राजनीतिशास्त्रियों के साथ-साथ दर्शन एवं साहित्य के लोगों के लिए भी एक अपूर्व कृति है। "पुरूष परीक्षा की गणना विद्यापति द्वारा रचित सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रंथों में होती है। इसकी लोकप्रियता का एक प्रमाण यह भी है कि हिन्दी, मैथिली, बांग्ला, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं में इसके प्रकाशित संस्करण मिलते है।"[29] विद्यापति की संस्कृत कृतियों में यह कितनी महत्वपूर्ण है इसका अंदाज इसके विभिन्न अनुवादों से लगाया जा सकता है।

'लिखनाबली' कवि की एक अन्य महत्वपूर्ण संस्कृत रचना है। जैसा कि नाम से ही प्रतीत हो रहा है कि इसका संबंध लेखन की किसी शैली से है। इस ग्रंथ में महाकवि ने कम संस्कृत जानने को लक्ष्य किया है। मध्यकालीन समाज में संस्कृत न जानने वालों की अधिकता थी। समाज के इसी हिस्से को ध्यान में रखकर कवि ने

इस ग्रंथ की रचना की थी। 'लिखनावली' में चार कोटि के पत्रों के नमूने उदाहरणस्वरूप दिये गये हैं। पहली कोटि में बड़ों के प्रति पत्र के अठारह नमूने हैं। दूसरी कोटि में छोटों के प्रति लिखे गये पत्र के अट्ठाइस नमूने हैं, तीसरी कोटि में बराबर वालों के प्रति लिखे गये पत्र के सात नमूने हैं। चतुर्थ कोटि में नियम–व्यवहारोपयोगी पत्रों के इकतीस नमूने हैं।

'लिखनावली' के पत्रों से मिथिला के समाज की राजनीतिक, समाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक स्थितियों का पता चलता है। "लिखनावली में आये पत्रों से, मिथिला की तत्कालीन राजनीति, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि अवस्थाओं पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है।"[30] इस ग्रंथ से स्पष्ट हो जाता है कि समाज के प्रत्येक वर्ग के लोगों को लेकर विद्यापति कितने जागरूक थे।

'विभागसार' भी विद्यापति की प्रामाणिक रचना है। तत्कालीन भारतीय सामाजिक स्थिति को केन्द्र में रखकर इस ग्रंथ की रचना की गई है।

'दुर्गाभक्तितरंगिनी' महाकवि की अंतिम प्रामाणिक संस्कृत रचना मानी जाती है। इस ग्रंथ में देवी की वंदना की गई है। दुर्गोत्सव-पद्धति का वर्णन इस ग्रंथ में किया गया है। दुर्गा के पूजन हेतु विविध मंत्रों का संग्रह भी इसमें है। इस ग्रंथ में अनेक निबंध है; इसलिए इसे 'वृहत् नैबन्धिक ग्रंथ' भी कहा जाता है। संस्कृत साहित्य को समृद्ध करने में विद्यापति का योगदान सराहनीय है। संस्कृत साहित्य के साथ–साथ मैथिली साहित्य के विकास में इनकी भूमिका अविस्मरणीय है।

मैथिली साहित्य में विद्यापति का प्रमुख स्थान है। मैथिली एक प्राचीन भाषा है। मैथिली के साथ–साथ मिथिलांचल के भी प्राचीन होने के साक्ष्य मिलते हैं। 'A survey of Maithili Literature' में राधाकृष्ण चौधरी लिखते हैं– "मिथिला के प्राचीनतम होने के साक्ष्य पर्याप्त हैं। आर्यों द्वारा मिथिला के उपनिवेशीकरण की कथा सत्पथ ब्राह्मण में साफ उद्धृत है। इस संदर्भ में आर्यों के मुखिया 'विदेह माधव' के उल्लेख से 'मिथिला' अथवा 'विदेह' के उद्‌गम का भी ठोस प्रमाण मिलता है।"[31] अन्य प्राचीन स्रोतों में भी मिथिला का जिक्र आया है। संस्कृत से लंबे संघर्ष के उपरांत

मैथिली स्वतंत्र रूप में स्थापित हो पाई। मैथिली के विकास में संस्कृत ने बाधा पहुँचाई, यह बात नई नहीं है। विद्यापति का इस संबंध में सराहनीय प्रयास है कि संस्कृत के साथ–साथ उन्होंने बिल्कुल ठेठ भाषा मैथिली में भी रचना की।

मैथिल कोकिल ने अपनी मातृभाषा मैथिली में पदावली की रचना की। विद्यापति का केन्द्रीय विषय प्रेम और सौन्दर्य है। विद्यापति के पदों की संख्या हजार के आसपास मानी जाती है। क्योंकि पदावली को लोककंठ से ही संग्रहित किया गया है, अतः पदों की वास्तविक संख्या बता पाना मुश्किल है। इनकी पदावली मैथिली कवियों के लिए आदर्श बन गई। विद्यापति अभी भी मैथिली साहित्य के स्तंभ बने हुए हैं। कोमल कांत पदावली का कोमल भाव, संगीतात्मकता, भावात्मकता के कारण दूर–दूर तक फैला। दिनेश झा इस संदर्भ में लिखते हैं कि "विद्यापतिक कोमलकांत पदावली वैयक्तिता, भावात्मकता, संक्षिप्तता, भावाभिव्यक्तिकता स्वाभाविकता, संगीतात्मकता तथा भाषाक सुकुमारता एंव सरलताक अद्‌भुत निदर्शन प्रस्तुत करैत अछि।"[32] विद्यापति की पदावली मिथिला ही नहीं समूचे बिहार, बंगाल, उड़ीसा और असम में प्रसिद्ध हुई। पदावली की लोकप्रियता का मुख्य कारण लोक भाषा, उसकी संगीतात्मकता तथा उसकी सरलता थी। विद्यापति के पदों के कई भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं। अनुवादकों आलोचकों ने पदों की व्याख्या कई तरह से की है। पदावली पर विस्तृत चर्चा तीसरे अध्याय में की जायेगी।

अतः महाकवि के व्यक्तित्व पर विचार करने से यह तो स्पष्टतः कहा जा सकता है कि मध्यकाल के संघर्षपूर्ण माहौल से भयभीत न होकर जिस तरह उन्होंने लोक भाषा में रचना की वह आसान नहीं था। उनकी रचनाओं में राजदरबार की झलक है तो आम जनता के प्रति उत्तरदायित्वबोध भी है। पुरूष परीक्षा, लिखनावली, पदावली इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। विभिन्न भाषाओं का ज्ञान और ग्रंथ की रचना उनके कद को और ऊँचा करता है। संस्कृत के पाठ्यक्रम में तो विद्यापति उपस्थित हैं ही, बांग्ला और हिन्दी साहित्य के पाठ्यक्रम से भी अलग नहीं हैं। समग्रता में देखा जाए तो विद्यापति भारत की किसी एक भाषा के कवि नहीं ठहरते, उन्हें तो भारतीय साहित्य का कवि कहा जा सकता है।

ख. नागार्जुन का साहित्यिक परिचय

"महासिद्ध मैं, मैं नागार्जुन
अष्ट धातुओं के चूरे की छाई में मैं फूँक भरूँगा
देखोगे, सौ बार मरूँगा
देखोगे, सौ बार जियूँगा
हिंसा मुझसे थर्राएगी
मैं तो उसका खून पियूँगा
प्रतिहिंसा ही स्थायी भाव है मेरे कवि का
जन–जन में जो ऊर्जा भर दे, उद्‌गाता हूँ उस रवि का।"[33]

"कालिदास, सच–सच बतलाना!
इंदुमति के मृत्युशोक से
अज रोया या तुम रोऐ थे?
कालिदास सच–सच बतालाना!"[34]

हिन्दी साहित्य में और उसके बाहर 'बाबा' के नाम से लोकप्रिय कवि नागार्जुन की रचनाशीलता के आयाम को हम इन दो कविताओं से कुछ समझ सकते हैं। नागार्जुन की कविताओं में आधुनिकता और परंपरा का अद्‌भुत मेल है। नागार्जुन अपने रचना–व्यक्तित्व में जितने 'प्रतिबद्ध' हैं उतने ही संवेदनशील। उनकी कविताओं की संवेदना में धधकती भट्ठियाँ हैं तो प्यार का अनूठा रसायन भी, अपूर्व विक्षोभ है तो जिज्ञासा की बालसुलभ ताजगी भी। नागार्जुन की कविताओं में भारतीय आमजन की दृष्टि की एक पूरी अर्द्धशती आवाज़ पाती है। सरल–सहज सी लगने वाली उनकी कविताओं के भीतर मुक्ति की आकांक्षा है, शोषण की पीड़ा है, राजनीति की कुटिलता पर करारा व्यंग्य है, आक्रोश है, प्रेम है, जनपद की धूल है, प्रकृति की रंजकता है, मानवेतर प्राणियों की सहज संवेदना है, खेत है, खलिहान है और साथ ही हैं रजनीपाम दत्त, ब्रेख्त, निराला, नेहरू, लू-शुन, विनोबा, मोरार जी और बापू।

नागार्जुन तटस्थता को ख़ारिज करते जनकवि हैं। एक रचनाकार के साथ-साथ सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्त्ता बनकर नागार्जुन ने जनकवि की अवधारणा को उसके उद्दाम रूप में प्रस्तुत किया। जनकवि को ललकारते हुए 'बाबा' ने लिखा–

"तुम भी आओ, तुम भी आओ
देखो, जनकवि, भाग न जाओ
तुम्हें कसम है इस माटी की
इस माटी की/ इस माटी की/ इस माटी की।"[35]

नागार्जुन एक ऐसे रचनाकार हैं जिसने अपनी बाँहों को जनता की हजार–हजार बाँहों से एकाकार कर दिया। नामवर सिंह जब लिखते हैं कि नागार्जुन सच्चे अर्थों में स्वाधीन भारत के प्रतिनिधि जनकवि हैं,[36] तो उनके दिमाग में बाबा की 'ऐक्टिव पोएट्री' हमेशा रहती है और साथ ही रहते हैं मुक्तिबोध, त्रिलोचन, केदार, धूमिल, रघुवीर, शमशेर आदि भी। जनकवि हाने के कठिन कर्म को पहचानकर ही नामवर सिंह आगे लिखते हैं कि "इस बात में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है कि तुलसीदास के बाद नागार्जुन अकेले ऐसे कवि हैं जिनकी कविता की पहुँच किसानों की चौपाल से लेकर काव्यरसिकों की गोष्ठी तक है।"[37] उनके व्यंग्य की धार को लक्षित करते हुए नामवर सिंह ने लिखा– "यह निर्विवाद है कि कबीर के बाद हिन्दी कविता में नागार्जुन से बड़ा व्यंग्यकार अभी तक कोई नहीं हुआ।"[38] और "तुलसीदास और निराला के बाद कविता में हिन्दी भाषा की विविधता और समृद्धि का ऐसा सर्जनात्मक संयोग नागार्जुन में ही दिखाई पड़ता है।"[39] मतलब साफ है कि 'बाबा' की कविता कबीर, तुलसी तथा निराला की समकालीन अभिव्यक्ति है। इतना बड़ा कवि–व्यक्तित्व भी जब जनता के बीच होता है तो उससे अलग नहीं होता और तब यह बात सही है कि नागार्जुन भारतीय किसान–मजदूर की सर्वहारा चेतना की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति हैं। कवि की ईमानदार स्वीकारोक्ति है–

"प्रतिबद्ध हूँ – जी हाँ प्रतिबद्ध हूँ
बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त

Nehru University Library
TH-17844

संकुचित 'स्व' की आपाधापी के निषेधार्थ

X X X

संबद्ध हूँ– जी हाँ, संबद्ध हूँ

X X X

सबसे और किसी से नहीं

और जाने किस किस से...

आबद्ध हूँ, जी हाँ, आबद्ध हूँ

स्वजन-परिजन के प्यार की डोर में"[40]...

बाबा की ज़िन्दगी और रचनाकर्म की थोड़ी बहुत भी जानकारी रखने वाला इस संकल्प की सत्यता से इन्कार नहीं कर सकता। एक प्रखर मार्क्सवादी होने के नाते वे समाज के अन्तर्विरोधों को बख़ूबी पहचानने थे और उनकी रचनाशीलता इसी द्वन्द्व से निर्मित हुई थी। नामवर सिंह ने उनकी कविताओं को 'द्वंद्वात्मकता' के विन्यास की कविता'[41] कहा और लिखा, "नागार्जुन की बाद की कविताओं में भी आपको मिलेगा कि संस्कार और विवेक के बीच द्वन्द में विवेक प्रबल रहता है, बराबर जाग्रत रहता है, विवेक कभी कुण्ठित नहीं होता और उनके समूचे साहित्य का प्राण है।"[42]

नागार्जुन हमेशा तर्क और विवेक के पक्ष में खड़े रहे। अपने समय के जनआंदोलनों के साथ कंधा मिलाकर लड़ाई भी लड़ी और उनके भ्रष्ट हो जाने पर उनकी आलोचना भी की। उनके इसी मिजाज को लक्षित करते हुए रामजी राय ने उन्हें 'नक्सली मिजाज का रचनाकार'[43] कहा। बिल्कुल मामूली लोगों, मामूली विषयों में भरा है नागार्जुन का रचना संसार। रचना की इस अनौपचारिकता में बेजोड़ हैं बाबा! बिल्कुल तात्कालिक मुद्दों पर लिखी उनकी कविताएँ उनके विवेक और सामाजिक संरचना की गहरी समझ के कारण युगबोध में तब्दील हो गयी हैं।

नागार्जुन ने मैथिली, हिन्दी, सिंहली–संस्कृत, बांग्ला भाषाओं में लिखा और खूब लिखा। मैथिली में उन्होंने 'यात्री' उपनाम से लिखा। उनकी पहली कविता 1929 में

लिखी 'मिथिला' थी जो मैथिली भाषा में लिखी गयी थी। इस कविता से शुरू हुई नागार्जुन की साहित्यिक यात्रा अपने विभिन्न पड़ावों से गुजरती हुई 'मायावती मायावती' पर आकर खत्म हुई। 5 नवबंर 1998 को यह यात्रा भौतिक रूप से तो समाप्त हो गयी लेकिन उनकी परंपरा निरंतर गतिमान है।

नागार्जुन का एकमात्र कहानी संग्रह है 'आसमान में चंदा तैरे! बारह कहानियों का यह संकलन पहली बार 1982 में पटना से प्रकाशित हुआ था। नागार्जुन की पहली कहानी 'असमर्थ दाता' थी जो सन् 1936 में मासिक पत्र 'दीपक' में छपी थी। 'दीपक' का प्रकाशन अबोहर, पंजाब से होता था। उन दिनों नागार्जुन ही 'दीपक' के संपादक थे, सो उन्होंने कहानी अपने नाम से प्रकाशित करवाने की बजाय एक छद्म नाम 'अकिंचन' नाम से प्रकाशित करवाई। कहानी एक ऐसे लेखक की है जो अपनी संवेदनशीलता के कारण एक ग़रीब भिखारिन की सहायता तो करना चाहता है लेकिन स्वयं उसके जीवन–यापन पर आसन्न संकट है। कहानी बिल्कुल सीधी है। व्यवस्था की अवैधता को साबित करती विशाल वंचित आबादी सड़–सड़ कर मरती जा रही है और उससे सहानुभूति रखने वाले वर्ग के साथ व्यवस्था का व्यवहार क्या है, यह कहानी से ही स्पष्ट है– "और मैं! कह ही क्या सकता था? मेरे पास में है ही क्या? दुर्भाग्य से कपड़े, पुराने होते हुए भी साफ हैं– फटी हुई धोती, मसका हुआ कुर्त्ता, मटमैली टोपी और नंगे पैर, यह है मेरा हुलिया! और जेब में? जेब में यदि कुछ है तो वह यही कि एक प्रतिष्ठित संपादक का धन्यवाद–पत्र, तीन पैसे की नोट–बुक, सादे कागज के कुछ टुकड़े और काम–चलाऊ जापानी पेंसिल। उसके अलावा...?[44]

कविताओं की तरह ही बिल्कुल सहज और सरल भाषा–शैली में नागार्जुन ने कहानियाँ लिखीं। कभी–कभी तो सहजता के प्रवाह में वे यह भी भूल गए कि कहानी का देशकाल क्या है? 'पारिजात' में मई'47 में छपी कहानी 'विशाखा मृगारमाता' का देशकाल छठी ईस्वी पूर्व का मगध और कोसल है। बुद्ध–काल की उस कहानी में नागार्जुन ने 'काफ़ले' और 'नाहक' जैसे शब्दों का प्रयोग किया कि 'बाबा' ने इसे इतिहास–कथा शैली में लिखा है। यद्यपि कहानी प्रगतिशील दृष्टि से थोड़ी पिछड़ी

लगती है तथापि यह तथ्य स्पष्ट रूप से सामने आता है कि बिना आधार में परिवर्त्तन हुए अधिरचना के परिवर्तन में कई तरह की समस्याएँ होने की संभावना रहती है। 'विशाखा मृगारमाता' कहानी से स्पष्ट होता है कि धीरे–धीरे बौद्ध विहार, राजाओं और सेठों के आश्रित हो गए और सामन्यजन से दूर होते गए। राजसत्ता और व्यापारी वर्ग का गठबंधन कहानी में खुल कर सामने आता है।

'कौमी बोली' के मई'45 के अंके में छपी कहानी 'ताप–हारिनी' आत्मकथा–सी लगती है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था और उसे पोषित करने वाली संस्थाओं पर नागार्जुन करारा व्यंग्य करते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी कहानियाँ हैं– जेठा (योगी, अप्रैल 1946), कायापलट (गाँव, दिसंबर 1946), ममता (योगी, अप्रैल 1952), विषमज्वर (गुजराती भाषा की एक कहानी के आधार पर, योगी, 5 मार्च 1955), हीरक–जयंती (हंस, 1957), हर्ष–चरित्र की पॉकिट एडीशन (ज्ञानोदय, अगस्त, 1957), मनोरंजन टैक्स (पुस्तक जगत, दिसंबर, 1958), आसमान में चंदा तैरे (कहानी, जून, 1958), भूख मर गई थी (नई धारा, अप्रैल, 1967), 'सूखे बादलों की परछाइयाँ' (रचना, मई 1970)। हीरक–जयंती कहानी में नागार्जुन के व्यंग्य का चरमोत्कर्ष है। सत्ता प्रतिष्ठान के विभिन्न अवयवों के पाखण्ड और भ्रष्टाचार को सामने लाती इस कहानी में कविताओं की सी तीक्ष्ण धार है।

नागार्जुन ने दो नाटक भी लिखे। धार पहला नाटक 'अनुकंपा' ज्ञानोदय के अक्टूबर, 1949 के अंक में प्रकाशित हुआ था। स्थान और काल के हिसाब से इस नाटक की कथावस्तु 2500 वर्ष पूर्व की कौशाम्बी है। नाटक पर बौद्ध दर्शन का गहरा प्रभाव है। नाटक उस समय की एक अमानवीय प्रथा को भी सामने रखता है– दास–दासियों के क्रय–विक्रय की प्रथा। लेकिन अन्ततः जीत मानवता और करुणा की होती है। दूसरा नाटक 'निर्णय' भी ऐतिहासिक कथावस्तु पर लिखा गया हे। यह 'नई धारा' के मई, 1955 के अंक में प्रकाशित हुआ था।

नागार्जुन ने हिन्दी और मैथिली दोनों भाषाओं में उपन्यास लिखे। हिन्दी में 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'नई पौध', 'बाबा बटेसरनाथ', 'वरूण के बेटे',

'दुखमोचन', 'कुम्भीपाक', 'अभिनंदन', 'उग्रतारा', 'इमरतिया', 'पारो', 'ग़रीबदास' और मैथिली में 'बलचनमा', 'पारो', 'नवतुरिया'। उपन्यासों की यह लंबी शृंखला नागार्जुन के गतिमान साहित्यिक जीवन की द्योतक है। नागार्जुन का पहला उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' जो 1948 में प्रकाशित हुआ था, मिथिला अंचल की एक ग़रीब विधवा और उसके भतीजे के इर्द–गिर्द घूमता है। उपन्यास जातीय परिवेश और परंपरागत संस्कारों को अनदेखा करने की बजाय एक प्रक्रिया में उनकी आलोचना तैयार करता है। यद्यपि यह आलोचना तक आते–आते जड़ों से कटने लगता है। भारतीय समाज के गहन अर्न्तविरोधों की सही पड़ताल करता है यह उपन्यास! शोषण, अन्याय, गरीबी और जातिगत हिंसा के चक्र में पिस रही भारतीय जनता की सही मनोदशा का रेखांकन करता है– 'बलचनमा'। अपनी सारी बाह्य साधारणता के बावज़ूद बलचनमा के पास जिन्दगी के तपे–तपाये अनुभव है। 'विद्रोह' उसके ऊपर लादा गया नहीं लगता बल्कि जीवन के कड़वे अनुभवों ने उसे क्रान्तिकारी चेतना से लैस कर दिया है। 'नयी पौध' में दहेज समस्या के खिलाफ आवाज़ उठाई गयी है। दरअसल क्रांतिकारी चेतना और आशावाद की बात करना नागार्जुन के व्यक्तित्व से बिल्कुल मेल खाता है। लेकिन जब यह आशावाद रूढ़ और यांत्रिक हो जाता है तो रचना पर बोझ लगने लगता है। रचना अपनी जीवतंता खो देती है। नागार्जुन के उपन्यासों में जहाँ–जहाँ यह आशावाद रचना की स्वाभाविक गति की प्रक्रिया में आया है वहाँ–वहाँ उसने रचना को ऊर्जस्वित कर दिया है लेकिन जहाँ–जहाँ यह यांत्रिक रूप से आया है वहाँ रचना टूटने लगी है। मधुरेश ने नागार्जुन के उपन्यासों की आंचलिकता के बारे में लिखा है– "अपने अंचल के प्रति एक गहरी आत्मीयता और परिवेश के निकट पहचान का भाव ही नागार्जुन के उपन्यासों का सबसे बड़ा आकर्षण है।"[45]

नागार्जुन ने एक समीक्षा–संस्मरण भी लिखा। महाप्राण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पर लिखे दस उपखण्डों के इस लम्बे व्यक्ति–चित्र का नाम 'एक व्यक्ति : एक युग' है। 'बाबा' ने 'निराला' के जीवन और साहित्य के संघर्ष की जिजीविषा की

सजीव प्रस्तुति की है जिसके आखिरी दो उपसर्ग 'दुर्धर्ष और अपराजेय' तथा 'सुर्ती फाँको नागार्जुन?' बेहद पठनीय और मार्मिक हैं।

नागार्जुन ने पटना से निकलने वाले साहित्यिक मासिक 'ज्योत्सना' में एक स्तम्भ लिखना शुरू किया। इस स्तम्भ का नाम था 'मुखड़ा क्या देखै दरपन में' राजनीतिक, साहित्यिक, धार्मिक स्थितियों पर चुटीला व्यंग्य इन स्तम्भों में मिलता है। दिल्ली के 'जनयुग' साप्ताहिक के लिए भी उन्होंने स्तम्भ लेखन का कार्य किया। 'यत्किंचित' नाम के इस स्तम्भ में नागार्जुन ने ज़्यादातर राजनीतिक मुद्दों पर ही लिखा।

बाबा ने कथेतर भी बहुत कुछ लिखा। कथेतर साहित्य का पहला संकलन 'अन्नहीनम्-क्रियाहीनम्' पहली बार 1983 में दिल्ली से प्रकाशित हुआ। कथेतर गद्य का दूसरा संकलन 'बम्भोलेनाथ' के नाम से 1987 में प्रकाशित हुआ। इनमें ज़्यादातार रचनाएँ निबंध हैं। अपनी यायावरी प्रवृत्ति के अनुरूप ही बाबा ने हर तरह के विषय पर निबंध लिखे। उनके निबंधों के विस्तृत आयाम के दायरे में जहाँ एक ओर तुलसीदास हैं तो दूसरी ओर बाबा स्वयं भी है। 'आइने के सामने' नाम का प्रसिद्ध निबंध जो सारिका के मार्च 1963 के अंक में छपा था, में बाबा अपने ही व्यक्तित्व का अन्वेषण करते जाने की बजाय बेहद तार्किक ढंग से सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण के पहलुओं का विश्लेषण करते हैं। 'फर्स्ट क्लास फर्स्ट' (ज्योत्सना, जून 1963) में एक जवान लड़की के बाप की दुश्चिंताओं से अपनी सहानुभूति रखते नागार्जुन सामाजिक रूढ़ियों को भी तोड़ने की वकालत करते हैं जिनकी जकड़बंदी ने मानवीय सम्बन्धों को विद्रूप बना दिया है।

बाबा घुमन्तू प्राणी थे। जब तक ताकत रही, कदम नहीं रूके। राहुल सांकृत्यायान के साथ कई बार हिमालय क्षेत्र और तिब्बत की यात्रा की। सोवियत संघ भी गये। लेनिन पर कविता लिखी। लेकिन राहुल सांकृत्यायन के साथ 'टिहरी से नेलङ्.' की यात्रा पर संस्मरण लिखा जो 'टिहरी से नेलङ्.' नाम से पारिजात के अक्टूबर 1946 के अंक में छपा था।

राहुल सांकृत्यायन और नागार्जुन एक–दूसरे के समकालीन थे। अतः सांकृत्यायन पर तो लिखा ही, साथ ही, अन्य साहित्यिक विभूतियों पर भी लिखा। कालिदास, विद्यापति, भारतेन्दु, टैगोर, निराला पर इन्होंने कविताएँ लिखीं।

नागार्जुन इन साहित्यकारों को केन्द्र बनाकर रचना मात्र नहीं करते हैं, इन साहित्यकारों का परंपरा बोध भी इनकी रचनाओं में है। बाबा के साहित्य में विद्यापति का लोक भी है, भारतेन्दु की परंपरा भी, कालिदास का प्रकृति चित्रण भी, निराला–सा अपनी रचनाओं पर दृढ़ विश्वास भी। मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है– "उनकी काव्य–वस्तु का एक स्रोत जन–जीवन का समकालीन इतिहास है तो दूसरा स्रोत भारतीय समाज और संस्कृति का पुराना इतिहास भी। ...वे भारतीय साहित्य की पंरपरा की महत्वपूर्ण स्मृतियों को भी अपनी कविता में नये ढंग से रचते हैं। इसीलिए वे कालिदास, विद्यापति, रवीन्द्रनाथ टैगोर और फणीश्वरनाथ रेणु पर भी कविता लिखते हैं आम जनता के लिए भी।"[46] उन्होंने कालिदास पर एक कविता लिखते हुए उनसे उनका सच पूछा है–

"कालिदास, सच–सच बतलाना!
इंदुमती के मृत्युशोक से
अज रोया या तुम रोए थे?
कालिदास सच–सच बतलाना!"[47]

नागार्जुन की कविताओं में जो प्रकृति चित्रण है, मेघों, शिखरों को जो बारहां वर्णन है, उन पर कालिदास का प्रभाव लगता है।

एक कविता है– 'भारतेन्दु'। इसमें उन्होंने जो बयां किया है, उनसे यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि भारतीय साहित्य पंरपरा से वे क्या ग्रहण करते हैं। एक पंक्ति है– 'प्रियवर जन–मन के बन गए, जन–जन को गुरू मानकर' जनता के बिना साहित्य रचना नहीं की जा सकती, यहाँ यही संकेत है। लोक और परंपरा का बोध इनकी कविताओं में बड़ी सहजता से आता है। नागार्जुन परंपरा से कई चीजों को

उठाकर उन्हें नया रूप प्रदान करते हैं। इन्होंने अपने साहित्य में देशी–गंवारू बोली का खूब प्रयोग किया है। 'भारतेन्दु' कविता में लिखते हैं–

"सर्व साधारन जनता की आँखों का तारा
उच्चवर्ग तक सीमित था भारत न तुम्हारा
हिन्दी की है असली रीढ़ गँवारू बोली
यह उत्तम भावना तुम्हीं ने हम में घोली"[48]

नागार्जुन की शुरूआती रचनाओं पर संस्कृत का प्रभाव अवश्य है किन्तु यह कभी भी उनके यहाँ किसी शर्त पर नहीं था। मतलब है कि ऐसा नहीं है कि उनकी सभी रचनाओं पर संस्कृत का प्रभाव है। बाद में तो उन्होंने संस्कृत के पुजारियों पर व्यंग्य करते हुए लिखा–

"उनकी तो है बस एक रट : भाषा संस्कृतनिष्ठ हो!
तुम अनुक्रमणिका ही लिखो यद्यपि सुगम 'लिस्ट' हो!"[49]

आगे चलकर भाषा भाषा की सहजता, सरलता के वे इतने हिमायती हो गए कि क्लिष्ट संस्कृत की बजाय अंग्रेजी को अपनाना बेहतर समझा।

नागार्जुन के रचना–संसार में लोक का विशेष महत्त्व है। वे लोक संस्कृति, लोकभाषा, लोक में प्रचलित शब्द, वहाँ के रीति–रिवाज, किसी को नहीं छोड़ते, सबको समेटते–बटोरते साथ चलते हैं।

एक कविता का उदाहरण देखिए, कैसे मिथिला का जीवन आँखों के सामने आता है–

गोठ बिछनी

बीछि रहल छै बनगोइठा तों
घूमि घामि करूँ बाध बोनले
. . . . . .
नगड़ा जेना लगावए खोंता

तेहो रूच्छ–केस छउ तोहर
दू छर–हारी मात्र गरॉमे
केहेन विचित्र भेस छउ तोहर"[50]

यही नहीं हिन्दी की कविताओं में मैथिली के ठेठ शब्दों का ऐसा प्रयोग किया है कि मिथिलांचल की संस्कृति की स्मृति सहज हो आती है। एक उदाहरण प्रस्तुत है–

"धरती धरती है
पन्हाई हुई गाय नहीं
कि चट से दुह लो कटियार भर दूध"[51]

'गाय का पन्हाना' और किसी काम को चट (जल्दी) से कर लेना जैसे प्रयोग मैथिली भाषा में आमतौर पर होते हैं। इन शब्दों का दूसरी भाषा में ऐसा सार्थक और नवीन प्रयोग नागार्जुन ही कर सकते थे। रामविलास शर्मा लिखते हैं– "हिन्दी भाषा क्षेत्र के किसान मजदूर जिस तरह की भाषा आसानी से समझते और बोलते हैं, उनका निखरा हुआ काव्यमय रूप नागार्जुन के यहाँ है।"[52] ग्रामीण जीवन के साथ उनका बोध भी उनमें।

बाबा की कविताओं में परंपरा और आधुनिकता का जो मेल है, वह अद्‌भुत है। अपनी मातृभाषा मैथिली में कविता लिखते हुए आधुनिक संस्कार वाली एंग्लो–इंडियन लड़कियों का बेजोड़ चित्रण किया है–

"होजक होज छऊँड़ी सब खेलइत अछि बास्केट बॉल--

. . . . . .

छड़पइए, कुदइए, बाल पर लुधकइए
बचवइए दहिना–बामा
है लिअ लिअ कइए देलकइ गोल
बाह रे बाह कांकोउ केशी कुहरी पतरकी छऊँड़ी।।"[53]

नागार्जुन की कविता को पढ़ते हुए नज़ीर की याद ताज़ा हो जाती है। जिस तरह नज़ीर की कविता में आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग था, जितनी सरलता और सहजता थी, नागार्जुन के यहाँ भी है। "नागार्जुन नज़ीर और भारतेन्दु के मिलेजुले उत्तराधिकार को कविता में संभव बनाते हैं। उसमें सहज संप्रेषणीयता भी है, और अद्‌भुत नाटकीयता भी।"[54]

जैसे नजीर ने कई चीजों पर कविता लिखी... वैसे ही नागार्जुन ने भी कुतिया, सूअर, गोठबिछनी, कटहल आदि शीर्षकों से कविताएँ लिखी। 'कटहल' पर उन्होंने मैथिली में एक कविता लिखी है–

पाकल आछि ई कटहर!

"चाबश! चाबश! चाबश!
एह, कहेन दीब पाकल अछि ई कटहर
एह, कते टा अछि ई कटहर
एह, केहन गम–गम करइत अछि ई कटहर
एह, कोना अपनहि खसल गाछसँ
एह, कोन तरहें पड़ल अछि छहोछित भँ 'क'
एह, कोना लुबधल छलइ अइ ले लोकक मोन
एह...."[55]

मैथिली भाषी होते हुए कभी–कभी लगता है कि कैसे इन शब्दों का इतना रचनात्मक प्रयोग किया जा सकता था? मिथिला का लोक् नागार्जुन की कविताओं में उभर कर बार–बार आता है। "कबीर, सूर, जायसी, तुलसी और मीरा की कविता हिन्दी क्षेत्र के विभिन्न जनपदों के लोक–जीवन और लोक–संस्कृति के साथ–साथ तादात्म्य रखती है और फिर भी उसमें भारतीय मनुष्य के मन को छूने की अपार क्षमता है। वही स्थिति नागार्जुन की कविता और कथा–साहित्य की है।"[56] नागार्जुन ने लोक से और भी बहुत कुछ लिया और बदले में पाठकों को दिया कहानी, कविता, उपन्यास निबंध, नाटक और अनुवाद भी।

नागार्जुन ने जयदेव के गीतगोविन्द, कालिदास के मेघदूत और विद्यापति के पदों का हिन्दी में अनुवाद किया। मेघदूत का अनुवाद नागार्जुन ने 'निबंध मुक्तवृत्त' शैली में किया है जबकि विद्यापति के पदों का अनुवाद एवं गीतगोविन्द का अनुवाद गद्य में किया है। एक कवि होने के नाते इन अनुवादों में नागार्जुन सरस हृदय के दर्शन होते हैं। नागार्जुन ने मैथिल कोकिल विद्यापति की पदावली का अनुवाद करते वक्त लिखा है कि इनके पदों से सामंती मनोरंजन और सुविधाभोगी वर्गों की परितृप्ति होती थी। यही बात उन्होंने गीत गोविन्द के अनुवाद में भी कही है। उन्हें यह भी पता था कि कालिदास भी सामंती समाज के ही गायक हैं। इन सबके बावजूद उन्होंने इन पदों का अनुवाद किया है। इस विषय पर विशेष चर्चा तीसरे अध्याय में की गई है।

बहरहाल, इन अनुवादों में नागार्जुन ने पदों के पूरे भाव और लय को समग्रता में पकड़ा है, तत्पश्चात् अनुवाद की भाषाई सचेतनता के साथ अपनी विशेष शैली में पंक्तियों का अनुवाद किया है। शब्दों की सांस्कृतिक और साहित्यिक परंपरा के ज्ञान के बिना कोई अनुवादक सफल नहीं हो सकता है। एक अनुवादक को स्रोत और लक्ष्य भाषाओं की सांस्कृतिक परंपरा एवं परस्पर विविधता का बोध होना ही चाहिए। इस लिहाज से नागार्जुन संस्कृत, मैथिली और हिन्दी तीनों ही परंपराओं के वारिस हैं। विद्यापति की कोमल–कांत पदावलियों के पीछे जयदेव एवं कालिदास का कितना अंश है इसे वह जानते हैं। यही कारण है कि उनके गद्यानुवाद में भी कवित्व के दर्शन हो जाते हैं।

संदर्भ सूची

[1] नागार्जुन रचनावली –3, पद सं. 3

[2] वही, पद सं. 125

[3] विद्यापति–शिव प्रसाद सिंह पृं–19

[4] विद्यापति पदावली– प्रथम भाग, पृं 15

[5] वही– प्रथम भाग, पृ. 15

[6] विद्यापति –शिव प्रसाद सिंह पृ. 29 पर उद्धृत

[7] नागार्जुन रचावली – 3, पद सं. 9

[8] वही, पद संख्या–19

[9] विद्यापति –शिव प्रसाद सिंह पृ 29 पर उद्धृत

[10] वही –शिव प्रसाद सिंह पृ 28 पर उद्धृत

[11] विद्यापति पदावली रामवृक्ष बेनीपुरी पृ 21–22

[12] विद्यापति पदावली – देशराज सिंह भाटी, पृ 22 पर उद्धृत

[13] नागार्जुन रचनावली – 3, पद संख्या – 86

[14] वही – देशराज सिंह भाटी, पृ. 23 पर उद्धृत

[15] वही – देशराज सिंह भाटी, पृ 25 पर उद्धृत

[16] नागार्जुन रचनावली, पद संख्या – 06

[17] हिन्दी साहित्य का इतिहास–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ 59

[18] विद्यापति पदावली, प्रथम भाग, पृ. 02 भूमिका से

[19] वही, प्रथम भाग, पृ. 18

[20] विद्यापति पदावली, तीसरा भाग, पद संख्या – 271–272

[21] वही, तीसरा भाग, पृ. 272 पर उद्धृत

[22] विद्यापति पदावली, प्रथम भाग, पृ. 02

[23] वही, प्रथम भाग, पृ. 03

[24] Radhakrishana Chaudhary, A Survey of Maithili Literature, p. 5 (स्व–अनूदित)

[25] वही, पृ. 5

[26] मैथिली साहित्य साहित्यक इतिहास – डॉ. दुर्गानाथ झा श्रीश पृ. 31

[27] रामवृक्ष बेनीपुरी, विद्यापति पदावली, पृ. 16

[28] विद्यापति दर्शन – डॉ. बजरंग वर्मा, पृ. 178

[29] वही, पृ. 178

[30] वही, डॉ. बजरंग वर्मा पृ. 187

[31] A survey of Maithili Literature'- Radhakrishana Chaudhary - p.01 (स्व–अनूदित)

[32] मैथिली साहित्यिक इतिहास – डॉ० दिनेश झा पृ. 89

[33] नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 232

[34] नागार्जुन रचना संचयन, पृ. 64

[35] प्रतिनिधि संकलन, नागार्जुन पृ. 117

[36] वही, पृ. 10

[37] वही, पृ. 10

[38] वही, पृ. 09

[39] वही, पृ. 09

[40] नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 130–131

[41] नागार्जुन : रचना प्रसंग और दृष्टि, पृ. 24–25

[42] वही, पृ. 25

[43] वही, पृ. 96

[44] नागार्जुन रचनावली–6, पृ. 300

[45] नागार्जुन : रचना प्रसंग और दृष्टि, पृ. 168

[46] वही, पृ. 42

[47] नागार्जुन रचना संचयन, पृ. 64

[48] वही, पृ. 65

[49] वही, पृ. 66

[50] यात्री समग्र, पृ. 74

[51] नागार्जुन रचना प्रसंग और दृष्टि, पृ. 118 पर उद्धृत

[52] नागार्जुन रचना संचयन, सं. राजेश जोशी, पृ. 14

[53] यात्री समग्र, पृ. 96

[54] नागार्जुन रचनावली प्रसंग और दृष्टि, पृ. 13

[55] यात्री समग्र, पृ. 83

[56] वही, पृ. 45

दूसरा अध्याय

अनुवाद की सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका और अनुवाद की समस्याएँ

क. अनुवाद की सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका

ख. अनुवाद की समस्याएँ

(क) अनुवाद की सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका

प्रायः प्रत्येक देश–प्रदेश की स्वतंत्र भाषा होती है। उस भाषा के साथ उस देश–प्रदेश की विशेषताएँ जुड़ी होती हैं। जैसे 'हिन्दी' शब्द सुनते ही गैर हिन्दी भाषी व्यक्ति के ज़हन में भारत का ख़्याल तो आता ही है, साथ ही भारत से जुड़ी यहाँ की तमाम सभ्यता–संस्कृति, परिवेश, यहाँ की जनता, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक गतिविधि, खान–पान, पहनावा, पर्व–त्योहार आदि सारी बातें एक साथ आँखों के सामने तैरने लगती हैं। देश की राष्ट्रभाषा या मानक भाषा में ही उस देश की अधिकांश साहित्यिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक, और दर्शन, विधि, प्रशासन, विज्ञान एवं कृषि से संबंधित रचनाएँ की जाती है। आज जबकि भूमंडलीकरण का दौर है, प्रत्येक देश की समुचित उन्नति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि अलग–अलग देशों की महत्त्वपूर्ण रचनाओं का पाठ करें। किसी भी राष्ट्र के लिए यह संभव नहीं है कि वह अन्य राष्ट्रों से कटकर उन्नति कर ले। विश्व की वर्तमान परिस्थिति को ध्यान में रखें तो ये बातें और भी तर्कसंगत प्रतीत होती है। किसी भी देश के विभिन्न पहलुओं को जानने में वहाँ की रचनाओं की अहम् भूमिका होती है। हम इस बात से परिचित हैं कि प्रायः सभी देशों की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ उस देश की भाषा में ही की जाती है। अतः उस भाषा की अज्ञानता उस देश की रचनाओं के पठन–पाठन में एक बड़ी समस्या के रूप में सामने आती है। विश्व की प्रत्येक भाषा का ज्ञान प्राप्त करना किसी भी मनुष्य के लिए असंभव है। भाषिक समस्या से उबरने में अनुवाद का विशेष योगदान रहा है। डॉ. कुसुम अग्रवाल इस संदर्भ में लिखती हैं– "अनुवाद मानव–सभ्यता के साथ ही विकसित एक ऐसी तकनीक है, जिसका आविष्कार बहुभाषिक स्थिति की विडंबनाओं से बचने के लिए किया गया।"[1] अनुवाद संप्रेषण का इतना ठोस माध्यम है कि यह विभिन्न भाषा–भाषी की दूरी को कम करता है। मानव सभ्यता को करीब से जानने में अनुवाद व्यक्तियों के बीच अभूतपूर्व सहायता करता है। यह व्यक्तिगत एकता, मानव एकता, विश्व एकता का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

आज विश्वभर में अनुवाद की आवश्यकता को स्वीकार किया जा रहा है। खासकर भूमंडलीकरण के इस युग में अनुवाद की महत्ता से असहमत नहीं हुआ जा सकता।

जार्ज स्टीनर लिखते हैं– "अनुवाद के द्वारा हम मानव की उस आधारभूत सार्वभौम, जनितकीय, ऐतिहासिक एवं सामाजिक एकता का अनुभव करते हैं जो भाषाओं के बाहरी भेद के बावज़ूद मानवीय भाषा के प्रत्येक मुहावरे की तह में अनुवाद करने का तात्पर्य है दो भाषाओं की बाह्य भिन्नताओं की तह में जाकर मानवीय अस्तित्व के समान तत्त्वों को प्रकाश में लाना।"[2] किसी भी देश–प्रदेश की भाषा का ज्ञान न होने की स्थिति में उस देश की साहित्यिक–सांस्कृतिक स्थितियों से हम वाक़िफ नहीं हो पायेंगे।

साहित्य अभिव्यक्ति का अनूठा उदाहरण है। इसमें साहित्यकार की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के साथ–साथ सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक स्थिति का वास्तविक रूप सामने आता है। "वैसे तो साहित्य की रचना और उसके बोध की प्रक्रिया कभी भी अपने सामाजिक संदर्भ से अप्रभावित नहीं रही है, लेकिन आधुनिक युग में साहित्य पर सामाजिक संदर्भ और राजनीतिक प्रवेश का जितना व्यापक और निर्णायक प्रभाव पड़ रहा है उतना पहले कभी नहीं था। आज के ज़माने में साहित्य की दुनिया केवल सौंदर्य और प्रेम की एकांत साधना के सहारे नहीं चलती है। वह समाज के आर्थिक ढाँचे, राजनीतिक परिवेश, सामाजिक संरचनाओं और सांस्कृतिक संस्थाओं से बहुत दूर तक प्रभावित होती है।"[3]

विश्व भर के साहित्यकारों ने समाज के आर्थिक ढाँचे, राजनीतिक परिवेश, सामाजिक संरचनाओं और सांस्कृतिक संस्थाओं का जिस तरह से प्रभाव ग्रहण किया है, उसे उसी तरीक़े से साहित्य की विभिन्न विधाओं में अभिव्यक्त किया है। विश्व भर के साहित्यकारों की इसी अभिव्यक्ति को अनुवाद, ऐसे पाठकों तक पहुँचता है, जो सीधे स्रोत में उनका पाठ नहीं कर सकते।

जब यहाँ अनुवाद की बात की जा रही है तब यह केवल विदेशी भाषा की रचनाओं के भारतीय भाषाओं में अनुवाद के संदर्भ में ही नहीं की जा रही है। ख़ासकर जब साहित्य, समाज, सभ्यता–संस्कृति के विषय में चर्चा की जा रही हो। देश के भीतर विभिन्न प्रदेशों की भाषाओं या फिर प्रदेश के अंदर बोली जाने वाली विभिन्न भाषाओं या बोलियों का अनुवाद भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना विदेशी भाषा–साहित्य का अनुवाद। उदाहरणतः उत्तर प्रदेश में कई बोलियाँ बोली जाती हैं जिनमें अंतर इतना है कि अलग–अलग प्रदेश के लोगों के लिए एक–दूसरे की बोलियों को थोड़ा–बहुत समझना भी मुश्किल है। अब उत्तर प्रदेश में अवधी भी बोली जाती है, ब्रज भी, भोजपुरी भी और गढ़वाली, कुमांउनी भी। इन सभी बोलियों को आसानी से अलग किया जा सकता है। इन बोलियों में काफी भिन्नता है, अतः यहाँ भी अनुवाद की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी विदेशी भाषाओं के अनुवाद की। दुनिया भर के देशों की सामाजिक संरचना, रहन–सहन, रीति–रिवाज, खान–पान में तो अंतर है ही, क्षेत्र विशेष के जनजीवन में भी भिन्नता होती है। क्षेत्रीय साहित्य को लक्ष्य करते हुए डॉ. कृष्णकुमार गोस्वामी लिखते हैं– "किसी कृति में अंचल विशेष या क्षेत्र विशेष के जन–जीवन का समग्र चित्रण अपनी क्षेत्रीय भाषा या बोली में जितना स्वाभाविक या सटीक हो पाता है उतना भाषा के अन्य रूप में नहीं। इससे अंचल विशेष के लोगों की सहज अभिव्यक्ति का परिचय मिलता है और वातावरण में स्वाभाविकता आ जाती है।"[4]

प्रत्येक भाषा की अपनी भौगोलिक सीमा होती है। यह भाषागत सीमा क्षेत्रीय भाषाओं के अनुवाद के दौरान एक समस्या के रूप में आती है। मूल भाव, क्षेत्रीय शब्द, मुहावरे, कहावतें तथा क्षेत्रगत विशेषता को अनुवाद में पूरी तरह ले आ पाना अनुवादक के लिए टेढ़ी खीर है। अनुवादक के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह स्रोत और लक्ष्य भाषा के रीति–रिवाज, रहन–सहन, उसकी सामाजिक–सांस्कृतिक गहराई को समझे बग़ैर अनुवाद न करे। किसी भी भाषा या किसी भी देश, क्षेत्र की पूरी जानकारी के बग़ैर विशिष्ट और पूर्ण संप्रेष्य अनुवाद कर पाना मुश्किल है।

अनुवाद यदि संस्कृति का संप्रेषण न कर पाये तो उसका कोई औचित्य नहीं रह जाता है या यूँ कहें तो बेहतर होगा कि वह शब्दों का रूपांतरण मात्र होता है, अनुवाद नहीं। डॉ. रामचंदू का तो मानना है कि "चूँकि एक भाषा के भाव–वैभव को ही नहीं बल्कि उसके ध्वन्यात्मक प्रतीकों को भी दूसरी भाषा में यथावत रूपांतरित और प्रतिस्थापित करना अनुवादक का लक्ष्य होता है, इसीलिए अनुवाद को "एक सांस्कृतिक सेतु" की संज्ञा प्राप्त हुई है।"[5] आमतौर पर अनुवाद का अर्थ शाब्दिक और भाषिक रूपांतरण से लिया जाता है, मगर यह सही नहीं है। यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण भाषिक तथा भावनात्मक प्रक्रिया है। अनुवाद का मूल अर्थ स्रोत भाषा के प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक पंक्ति, प्रत्येक पदों की संवेदनाओं, ध्वनियों, लयों, प्रतीकों को लक्ष्य भाषा में इस प्रकार प्रतिस्थापित करना है कि स्रोत और लक्ष्य दोनों ही पाठ की मूल संवेदना नष्ट न हो। अनुवादक का यह दायित्व है कि वह स्रोत भाषा के प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक पदों के भाव, ध्वनियों, लयों, प्रतीकों को लक्ष्य भाषा में इस प्रकार प्रस्थापित करे कि न तो स्रोत भाषा की मूल संवेदना नष्ट होने पाए, न ही भाषा की संगीतात्मकता और न सभ्यता–संस्कृति। वैसे सभी की रक्षा कर पाना आसान नहीं होता है। साहित्यिक अनुवाद को अन्य सभी अनुवादों से इन्हीं विशेषताओं से अलगाया जा सकता है। 'सेपिर' का मानना है कि "सभ्यता के प्रतिनिधित्व की दृष्टि से दो भाषाएँ समान नहीं हो सकती हैं। कारण दो सभ्यताएँ जिन समाजों में जीती हैं उसके अपने–अपने संसार हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि अनुवाद में मात्र भाषिक परिवर्तन नहीं होता, प्रत्युत इसमें सभ्यता का रूपांतरण अपेक्षित है। रूपांतरण निकटतम ही संभव है।"[6] सेपिर स्पष्टतः यह स्वीकार करते हैं कि केवल भाषिक रूपांतरण ही अनुवाद नहीं है। जब तक अनुवाद में मूल कृति के भाव का अनुवाद नहीं किया जायेगा, वह अनुवाद नहीं होगा। संस्कृतियों के विकास में अनुवाद का सराहनीय योगदान है। अनुवाद ही वह माध्यम है जिसके कारण संस्कृतियों का परस्पर आदान–प्रदान संभव हो पाया है। दुनिया के तमाम देशों की प्राचीन सभ्यता–संस्कृति को एक देश से दूसरे देश तक पहुँचाने में अनुवाद ने पुल का काम किया है। "प्राचीन काल की संस्कृतियों के विकास में अनुवाद की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। बैबिलोन की संस्कृति बहुभाषी लोगों की

संस्कृति थी और उनके प्रशासनिक कार्य–कलापों तक में अनुवाद का महत्त्वपूर्ण हाथ था। रोम के लोगों ने संपूर्ण यवन संस्कृति को अनुवाद के माध्यम से अपनाया था। अरबों ने तो भारत के गणितशास्त्र, खगोलविज्ञान एवं आयुर्वेद के ग्रंथों का अनुवाद करके विश्व संस्कृति के विकास की भूमिका तैयार की थी।"[7] विश्व सभ्यता के विकास में अनुवाद के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। अनुवाद, ज्ञान के लेन–देन में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर चुका है।

भारत में भी अनुवाद की प्राचीन परंपरा रही है। भारत के अनेकानेक ग्रंथों का विश्व की कई भाषाओं में अनुवाद किया जा चुका है। "इस देश में अनुवाद की परंपरा वस्तुतः तभी से माननी चाहिए जब भारत से बाहर की किसी भाषा में अनुवाद–कार्य हुआ। संभवतः सर्वप्रथम, 'पंचतंत्र' का पहलवी भाषा में अनुवाद हुआ जो हकीम बुर्जोई (Burzoe) ने खुसरो अनौशेरवाँ (531–579) के शासन काल में किया।"[8] भाष्य तथा टीका को अनुवाद के पूर्व रूप में स्वीकार किया गया है। आधुनिक युग में अनुवाद के प्रकाश में आने के उपरांत वैदिक साहित्य, उपनिषद्, पुराण, महाभारत, रामायण आदि का विभिन्न भारतीय भाषा में तथा विदेशी भाषा में भी अनुवाद किया गया।

इस प्रकार विश्व के अनेक भागों तक अनुवाद के द्वारा भारतीय संस्कृति की पहुँच बन पाई और मानव–सभ्यता के विकास में भारतीय समाज और संस्कृति का योगदान संभव हो पाया।

मानव सभ्यता के विकास में भाषा का अभूतपूर्व योगदान रहा है। भाषा के विकास के साथ–साथ मानव अपनी सोच का आदान–प्रदान करने लगा। भाषा के विकास से ही अंतर–मानव संप्रेषण की स्थिति बन पाई। भाषा द्वारा भाव संप्रेषण मानव–सभ्यता की एक बड़ी उपलब्धि थी। भाषा के विकास से मानव में गुणात्मक अंतर आया। भाषा शिक्षा का केन्द्रीय माध्यम बना और शिक्षित होने के उपरांत मानव सभ्य बन पाया। विश्व के अलग–अलग हिस्सों में मानव–सभ्यता के विकास के विभिन्न चरणों को अनुवाद ने संप्रेषित किया।

नेमिचंद जैन ने स्तानधाल के उपन्यास 'सुर्ख और स्याह' का हिन्दी अनुवाद किया है। राजकमल प्रकाशन ने इसे प्रकाशित किया है। प्रकाशकीय में अनुवाद तथा विश्व साहित्य संबंधी चर्चायें की गई हैं, साथ ही संकेत किया गया है कि कैसे कोई रचना देश–काल या राष्ट्र की सीमाओं तक ही सीमित नहीं रहती, वह समूची मानव–सभ्यता की धरोहर होती है। इस विश्व साहित्य सीरीज को तीन भागों में विभक्त किया गया है, धरोहर उनमें से एक है– "धरोहर के अंतर्गत हम पुनर्जागरण (रेनसाँ) और प्रबोधनकाल (एज ऑफ एनलाइटमेंट) के लगभग साढ़े तीन सौ वर्षों के दौरान की उन महानतम साहित्यिक क्लासिकी कृतियों का अनुवाद हिन्दी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करेंगे जो किसी एक देश या राष्ट्र की नहीं बल्कि पूरी मानव–सभ्यता की धरोहर है। आधुनिक विश्व–साहित्य के ये प्रारंभिक कीर्ति शिखर, वैज्ञानिक तर्कणा और मानव–मुक्ति के भविष्य–स्वप्नों के जन्म और विकास के साक्षी दस्तावेज हैं।"[9]

नवजागरण में अनुवाद की महती भूमिका है। यूरोपीय और भारतीय दोनों ही संदर्भ में ये बातें लागू होती हैं। यूरोपीय नवजागरण में ग्रीक और लैटिन ग्रंथों के अनुवाद का प्रमुख स्थान है। नवजागरण के अंतर्गत कई चीजें आती हैं जिनमें प्राचीनता नवीनता दोनों के मिले–जुले रूप की प्रमुखता है। जी. गोपीनाथ भारतीय नवजागरण और अनुवाद के संबंध में लिखते हैं कि "आधुनिक भारत के सांस्कृतिक नवोत्थान में भी पश्चिमी साहित्य के अनुवादों का बड़ा हाथ रहा है। इन अनुवादों ने भारतीयों के दिल में एक नई प्रेरणा भर दी थी और अपनी प्राचीन संस्कृति को नई दृष्टि से देखने के लिए उन्हें मजबूर किया था। भारतीय संस्कृति का मूलरूप यदि आज भी भारतीय जनता के जीवन में ज्यों का त्यों मिल जाता है तो उसका श्रेय रामायण, महाभारत, भागवत् आदि के आधुनिक भारतीय भाषाओं में किये गये अनेक रूपांतरों को प्राप्त है।"[10] भारतीय नवजागरण और हिन्दी प्रदेश का गहरा संबंध है। भारतीय नवजागरण और सिपाही विद्रोह के तार एक–दूसरे में गुंफित हैं। इसीलिए हिन्दी नवजागरण में सिपाही विद्रोह का भी योग दिखता है। हिन्दी में नवजागरण 1850 के बाद आया या फिर भक्तिकाल, भक्ति आंदोलन के साथ यह एक विवादस्पद

मसला है। उसकी गहराई में न भी जायें तो यह बात तो स्पष्ट है ही कि 1857 के विद्रोह के आस–पास से हिन्दी में विदेशी भाषाओं का अनुवाद होने लगा था। सिपाही विद्रोह के साथ ही तीन महत्त्वपूर्ण विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। "जिस वर्ष भारत में सिपाही–विद्रोह हुआ, उसी वर्ष (1857 में) कलकत्ता, मद्रास और बंबई में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। सन् 1864 में लखनऊ के केनिंग कॉलेज, सन् 1872 में इलाहाबाद में 'म्योर सेंट्रल कालेज' एवं सन् 1875 में अलीगढ़ में 'मोहम्मडन एंग्लो ओरियेंटल कॉलेज' खोला गया (ये तीनों कॉलेज आगे चलकर विश्वविद्यालयों के रूप में परिवर्तित हो गये)। फिर तो देश में स्कूलों और कॉलेजों की धूम मच गई। यहाँ तक कि 1882 में इन संस्थाओं में अंग्रेजी पढ़ने वाले भारतीय नवयुवकों की संख्या बीस–पचीस लाख पहुँच गई।"[11] अंग्रेजी विद्यार्थियों की तादात में वृद्धि के साथ उनमें एक सोच यह भी विकसित हुई कि अंग्रेजी साहित्य को भारतवासियों तक पहुँचाया जाए, खासकर उन तक जो अंग्रेजी से अनभिज्ञ हैं। इसी सिलसिले में अनुवाद को और ज्यादा प्रोत्साहन मिला। अनुवाद की महत्ता को उस समय साहित्यकार स्वीकार कर रहे थे। "....दूसरी भाषाओं के लेखों और पुस्तकों का अपनी भाषा में अनुवाद न किया जाय तो साहित्य की बहुत हानि होती है.....दूसरी भाषाओं में जो अच्छी–अच्छी बातें मौजूद हैं वे अनुवाद या आधार के बिना हमारी भाषा में न आवें तो हमें उनका ज्ञान भी न हो। हमारी दशा कूपमंडूक की सी हो जाए। मौलिक ग्रंथ यदि सूर्य है तो अनुवाद ग्रंथ दीपक है जो अंशतः सूर्य का ही काम देते हैं।"[12] विदेशी साहित्य के अध्ययन से भारतीय अपनी सोच की परिधि से बाहर निकल पाये और उनका नवोत्थान हुआ, किन्तु उस समय विद्वानों का एक ऐसा समूह भी था जो विदेशी भाषा के खिलाफ उनकी सभ्यता, संस्कृति के खिलाफ था। इन्हें लक्ष्य करते हुए आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं– "किसी कारण से जो लोग अच्छी पुस्तकों के हिन्दी अनुवादों को हीन दृष्टि से देखते हैं वे हिन्दी के मित्र नहीं शत्रु हैं। .....जिस हिन्दी के लेखकों में अभी तक अच्छे–अच्छे दस–पाँच अनुवादक भी नहीं दिखाई देते उनमें नए और मौलिक ग्रंथों को लिखने वाले कहाँ से आवेंगे...एक भी अच्छी पुस्तक का अनुवाद पचास नई, पर निःसार पुस्तकों की अपेक्षा अधिक महत्व रखता है....अतएव प्रालापियों

के प्रलाप की परवा न करके संस्कृत, अंगरेज़ी, बँगला, मराठी और गुजराती आदि भाषाओं के उपयोगी ग्रंथों का अनुवाद करके हमें हिन्दी का साहित्य उन्नत करने में ज़रा भी संकोच न करना चाहिए।"[13] द्विवेदी जी इस बात का अंदाजा कर पा रहे थे कि अनूदित साहित्य से समाज में किस तरह जागरूकता आयेगी। लोगों की चेतना का विकास होगा। भारत में मध्यवर्ग का उभार सर्वप्रथम बंगाल में हुआ। बंगाल में ही सबसे पहले भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी साहित्य का हिन्दी अनुवाद किया गया। संभवतः यही कारण है कि बंगाल में नवजागरण सबसे पहले आया। विभिन्न भाषाओं के साहित्य के अनुवाद से भारतवासी कई भाषाओं की सभ्यता–संस्कृति को जान पाये तथा उनकी चेतना का विकास हुआ। इसी प्रकार विश्व भर में अनुवाद से सामाजिक–सांस्कृतिक रूपों का संप्रेषण हुआ।

समकालीन साहित्य में प्रतिरोध के स्वर प्रबलतम रूप में साहित्य की तमाम विधाओं में वर्तमान है। अनुवाद के द्वारा इनके स्वर और तेज हुए हैं। दुनिया भर में वैसी साहित्यिक रचनाओं के अनुवाद खुब हुए हैं जिनमें प्रतिरोध कई रूपों में प्राप्त होते हैं।

प्रतिरोध की संस्कृति और साहित्यिक अनुवाद का गहरा संबंध है। साहित्य का लक्ष्य मूलतः मानवता के पक्ष में तथा परतंत्रता के खिलाफ आवाज उठाना ही सिखाता है। कोई भी साहित्यकार अपने परिवेश, अपनी संस्कृति की रूढ़ि, सड़ी–गली व्यवस्था के विरोध में तथा बेहतर समाज निर्माण की आकांक्षा लिए ही साहित्य की रचना करता है। चाहे वह कबीर हो, मीरा हो, अक्महादेवी, निराला, महादेवी, नागार्जुन, पाश, महाश्वेता देवी, शरण कुमार लिम्बाले, ओमप्रकाश वाल्मीकि, निर्मला पुतुल, पाब्लो नेरूदा, नाजिम हिकमत, गोर्की या सीमोन द बऊवार हो। इन सभी रचनाकारों ने प्रत्यक्ष रूप से स्वयं या इनके पात्रों ने समाज के समक्ष कई प्रश्न खड़े किए। किसी ने वर्णाश्रम व्यवस्था को ध्वस्त करने की बात की, किसी ने स्त्रियों की स्वतंत्रता की बात की, किसी ने वर्गभेद समाप्ति की तो किसी ने सड़ी–गली व्यवस्था को बदलने की बात की।

जब हम प्रतिरोध की बात करते हैं तब वह कई स्तरों पर चल रहा होता है। बद्रीनारायण 'प्रतिरोध की लोक संस्कृति' लेख में लिखते हैं– "प्रतिरोध की संस्कृति भी होती है, प्रतिरोध की संस्कृति बोलती भी है, चुप भी रहती है। प्रतिरोध के इन दोनों रूपों की खोज हम जनसामान्य के प्रतिदिन के व्यवहार में कर सकते हैं।"[14]

दुनिया भर के साहित्यकारों ने अपनी–अपनी भाषा में प्रतिरोध की संस्कृति को समृद्ध किया है। अनुवाद के माध्यम से उन सभी भाषा की रचना का पाठ संभव हो पाया, जिनमें ये स्वर प्रमुख थे। अश्वेत साहित्य के अनुवाद के बाद वहाँ की जनता के प्रतिरोध को बेहतर समझा गया। सीमोन द बऊवार के 'द सेकेण्ड सेक्स' के अनुवाद के उपरांत दुनिया भर के विभिन्न हिस्सों में स्त्री संबंधी सवालों को और भी प्रबल तरीके से उठाया जाने लगा। कबीर के दोहों के अनुवाद से वर्णाश्रम व्यवस्था, धार्मिक बाह्याडंबर, सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ स्वर और भी बुलंद होने लगे। मैक्सिम गोर्की की 'माँ' नेरूदा, लोर्का, पुश्किन, गोयठे, निर्मला पुतुल एवं तस्लीमा नसरीन आदि की रचनाओ से प्रतिरोध की संस्कृति को और भी बल मिला है। इन सभी भाषाओं के साहित्यकारों के स्वर अनुवाद के कारण ही अन्य भाषा–भाषी तक पहुँच पाए हैं।

अतः कहा जा सकता है कि विश्व संस्कृति के विकास में अनुवाद की अभूतपूर्व भूमिका है। "विश्वसंस्कृति के विकास में अनुवाद का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। धर्म एवं दर्शन, साहित्य, शिक्षा, विज्ञान एवं तकनीकी, वाणिज्य एवं व्यवसाय, राजनीति एवं कूटनीति जैसे संस्कृति के विभिन्न पहलुओं का अनुवाद से अभिन्न संबंध है।"[15]

ख. अनुवाद की समस्याएँ

अनुवाद अत्यंत जटिल प्रक्रिया है। इसमें जितना महत्व स्रोत भाषा का होता है, उतना ही लक्ष्य भाषा का भी। दो अलग–अलग भाषा–भाषी के बीच अनुवाद सार्थक पुल का दायित्व निभाता है। इस पुल को सार्थक बनाने में अनुवादक की विशेष भूमिका होती है। स्रोत भाषा, लक्ष्य भाषा और पाठ की समुचित जानकारी के बावजूद भी अनुवादक के समक्ष अनेकानेक समस्याएँ आती हैं। अनुवाद के कई पाठ हो सकते हैं और भिन्न–भिन्न पाठ की समस्याएँ भी एक–दूसरे से अलग होती हैं। साहित्यिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, आयुर्वैज्ञानिक, अभियांत्रिक, विधि संबंधी कृतियों को अलग–अलग रखकर देखें तो इनके अनुवाद में समस्याओं की स्थिति समान नहीं होती तथा समस्याओं को हल करने के उपाय भी समान नहीं होते। किसी अनुवाद के लिए शब्दानुवाद उपयुक्त है तो किसी लिए भावानुवाद, किसी के लिए सामाजिक–सांस्कृतिक अनुवाद बेहतर हो सकता है तो किसी पाठ के लिए छायानुवाद। इसके अलावा किसी अनुवाद में भाषापरक समस्या की अधिकता रहती है तो किसी में भावपरक, किसी में पाठपरक तो किसी में सामाजिक–सांस्कृतिक।

कैटफर्ट ने अनुवाद की दो प्रकार की सीमाएँ बताई हैं – भाषापरक और सामाजिक–सांस्कृतिक। विद्वानों का मानना है कि भाषापरक समस्या दोनों भाषाओं की भिन्न संरचनाओं के कारण पैदा हो सकती है। किन्तु सामाजिक–सांस्कृतिक समस्या सर्वाधिक जटिलता पैदा करती है। यह समस्या और भी विषम रूप में सामने तब आती है जब अनुवाद साहित्यिक कृतियों का किया जा रहा हो। अन्य सभी अनुवादों की तुलना में साहित्यिक अनुवाद सबसे कठिन है। साहित्यिक अनुवादक को अन्य अनुवादक से अधिक समस्याएँ झेलनी पड़ती हैं।

भाषापरक समस्या कमोबेश सभी तरह के अनुवादों में आती है, मगर साहित्यिक अनुवाद में यह समस्या अनुवादक के लिए सर्वाधिक पेरशानी पैदा करती है। सभी भाषाओं के स्वरूप, वाक्य विन्यास, उसके शब्द भंडार, शब्दों की महत्ता, व्याकरणिक रूप–विन्यास आदि में विविधता होती है। सभी भाषाओं में शब्दों, रंगों, लोकोक्तियों,

मुहावरों, रीति–रिवाजों, संबंधों, पर्व–त्योहारों की अलग दुनिया होती है। किसी अन्य भाषा में इन सभी को हू–ब–हू उसी अर्थ के साथ, उसी भाव और शब्दों की उसी विशेषता, उसी महत्ता के साथ अनुवाद करना आसान नहीं होता। इसीलिए यह माना जाता है कि अनुवाद की सफलता में अनुवादक का बहुत बड़ा योगदान होता है। डॉ. जयन्ती प्रसाद नौटियाल का मानना है कि "अनुवादक मूलतः सर्जक होता है। उसमें रचनाशीलता स्वभावतः होती ही है। अनुवादक में यदि रचनाशीलता नहीं होगी तो वह सहृदय पाठक भी नहीं होगा, क्योंकि रचनाशील व्यक्ति ही भावनाओं की गहराई तक पैठ सकता है। अनुवादक भी सृजन करता है। स्रोत भाषा से तो वह कथ्य लेता है, शेष रचना, जैसे– शैली, शब्द एवं प्रस्तुति वह स्वयं करता है। अतः रचनाशीलता अनुवादक का श्रेष्ठ गुण है, यही रचनाशीलता उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा के रूप में प्रस्तुत होती है।"[16]

अनुवादक जब तक मूल कृति से तादात्म्य स्थापित नहीं करेगा, वह अच्छा अनुवाद कर ही नहीं सकता। लक्ष्य और स्रोत दोनों भाषाओं पर समान अधिकार होने से समस्याएँ अपेक्षाकृत कम आती हैं।

भाषिक समाज की संस्कृति के ज्ञान के साथ–साथ लक्ष्य पाठ की समुचित जानकारी, शब्दकोशों के उपयोग, कोशों की जानकारी, लक्ष्य भाषा तथा स्रोत भाषा के प्रति आदर के भाव के साथ स्रोत तथा लक्ष्य पाठ के पौराणिक प्रतीक, सांस्कृतिक प्रतीक, सामाजिक व्यवस्था आदि की जानकारी से अनुवादक और भी अच्छा अनुवाद कर पायेगा। "एक अच्छे अनुवादक का सर्वप्रथम गुण यह है कि उसे स्रोत भाषा एवं लक्ष्य भाषा पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए। भाषा का अल्पज्ञान या कामचलाऊ ज्ञान होने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। अतः अनुवादक को दोनों भाषाओं के अर्थ, प्रकृति, मुहावरे, उपभाषा व बोलियों की भी जानकारी होनी चाहिए। यह अनुवादक का पहला गुण है।"[17]

अनुवादक तब तक अच्छा अनुवाद नहीं कर सकता, जब तक उसे स्रोत और लक्ष्य दोनों भाषाओं की बारीक़ से बारीक़ जानकारी न हो। प्रत्येक भाषा में महत्त्वपूर्ण

सांस्कृतिक, पौराणिक शब्द भी होते हैं, जिसकी जानकारी के बग़ैर अनुवाद पूर्ण नहीं हो पाएगा। किसी भी अनुवाद के लिए उसका संप्रेष्य होना आवश्यक है। अन्यथा पाठक अनूदित कृति के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर पायेगा। "अनुवाद की सफलता का सर्वोत्तम आधार या एक मात्र आधार है संप्रेषणीयता। अर्थात् मूल पाठ जैसी ही संप्रेषणीयता लक्ष्य भाषा पाठ में भी होनी चाहिए।" अनुवाद का महत्त्वपूर्ण कार्य होता है मूल कृति के भाव, उसकी संस्कृति को पाठक तक संप्रेषित करना। सांस्कृतिक संप्रेषण, कृति के मूल भाव के संप्रेषण में अनुवाद की अहम् भूमिका है। जब तक स्रोत भाषा की कृति के मूल तत्व को पाठक ग्रहण नहीं कर लेता, तब तक कोई भी अनुवाद सफल नहीं माना जायेगा। अनुवाद ही दो भिन्न भाषा–भाषी के मध्य पुल की भूमिका निभाता है। अनुवादक को कई तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। स्रोत भाषा से लक्ष्य भाषा में हू–बू–हू भाव, कथ्य, सामाजिक– सांस्कृतिक परिवेश को बांधना आसान नहीं होता। यह परेशानी तब और विकट हो जाती जब अनुवाद साहित्य का करना हो।

विभिन्न तरह के अनुवादों में साहित्यिक अनुवाद का विशेष संदर्भ है। अनुवाद के जिस सामाजिक–सांस्कृतिक संप्रेषण की बात की जाती है, साहित्यानुवाद में मानव–सभ्यता के विकास की स्थिति, विभिन्न समाज में संस्कृतियों का सामाजिक परिवेश में आदान–प्रदान यहाँ सर्वाधिक होता है। डॉ. रमण सिन्हा' अनुवाद और रचना का उत्तर जीवन' में लिखते हैं "सभ्यता के उद्भव और विकास में मानव सम्प्रेषण का इतिहास छिपा हुआ है और संप्रेषण के मूल में-अनुवाद या अनुवाद की धारणा है।"[18] इस बात से किसी भी आलोचक को आपत्ति नहीं होगी कि संप्रेषण के लिए भाषा, एवं विभिन्न भाषाओं के सामाजिक–सांस्कृतिक संप्रेषण के लिए अनुवाद लगभग अनिवार्य है। अनुवाद ही वह माध्यम है जिससे सभ्यता का आदान–प्रदान भी होता है तथा कई 'अवधारणाएँ' भी बनते–बदलते हैं। प्रसिद्ध आलोचक जेम्स मिल ने भारतीय सभ्यता संस्कृति को अबुद्धिवाद से जोड़कर देखा। "उनके अनुसार संस्कृत साहित्य एक आत्मग्रस्त समाज की रचना थी।"[19] संस्कृत साहित्य को अगर ध्यान में

रखें तो 'अभिज्ञानशाकुंतलम', 'मेघदूतम', 'वासदत्ता' के अनुवाद विश्व की कितनी ही भाषाओं में हो चुके हैं और आज भी इनके अनुवादों का सिलसिला थमा नहीं है। अभिज्ञानशाकुंतलम् के अनुवाद यूरोप की लगभग सभी भाषाओं में हो चुके हैं। सभ्यता के जिस अवधारणा, जिस सोच के बनने, बदलने की बात की जा रही थी, जेम्स मिल के विशेष संदर्भ में देखा जाय तो अबुद्धिवाद और असभ्य की धारणा के सन्दर्भ में लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के कथन महत्वपूर्ण हैं कि "कालिदास की इस रचना ने योरोप के विद्वानों की आँखें खोल दी थीं। उसे पढ़कर वे भारतीय साहित्य की श्रेष्ठता के कायल हुए थे।"[20] विलियम जोंस ने तो 'शकुन्तला ऑफ द फेटॅल रिंग' के अनुवाद की भूमिका में कालिदास को 'भारत का शेक्सपियर' घोषित किया। सभ्यता–संस्कृति को केवल बाहर से देखकर आंकलित नहीं किया जा सकता है। अतः संस्कृत साहित्य के अनुवाद के बाद यूरोपवासियों का भ्रम टूटा।

आधुनिक युग में साहित्यानुवाद के विशेष संदर्भ में देखें तो नाट्यानुवाद से इसका आरंभ माना जा सकता है। भारतेंदु युग में भारतेन्दु ने अंग्रेजी, बांग्ला, प्राकृत, संस्कृत के कई नाटकों का हिन्दी अनुवाद किया। 'विद्यासुंदर' का बांग्ला से, 'रत्नावली', 'मुद्राराक्षस', 'पाखंड विडंबन' और 'कर्पूर मंजरी' प्राकृत से अनुवाद किया। 'प्रबोध चंद्रोदय', 'सत्यहरिशचंद' 'भारतजननी' का संस्कृत से अनुवाद किया। भारतेन्दु के अलावे भी आधुनिक युग में कई अनुवादक हुए जिन्होंने अनुवाद के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। बाबू रामकृष्ण वर्मा, बाबू गोपालराम, रवींद्र बाबू, बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री, गोपालराम गहमरी, बाबू गंगा प्रसाद गुप्त, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, शीतला प्रसाद, देवदत्त तिवारी, बालमुकुंद गुप्त आदि ने गद्य साहित्य का अनुवाद किया और विभिन्न भाषा–भाषी लोगों को नज़दीक लाने में सफल रहे।

डॉ. जी. गोपीनाथ ने विषय की दृष्टि से अनुवाद को दो भागों में विभाजित किया है–

1. साहित्यिक
2. साहित्येतर

साहित्यिक अनुवाद के अंतर्गत काव्यानुवाद, नाट्यानुवाद, कथा–साहित्यानुवाद, अन्य गद्य रूप–जीवनी, आत्मकथा, निबंध, आलोचना, डायरी, रेखाचित्र और संस्मरण आदि के अनुवाद को रखा है।[21]

गद्य साहित्य के कुछ अनुवादों की चर्चा भारतीय नवजागरण के संबंध में की जा चुकी है।

साहित्य की पृथक्–पृथक् विधाओं का विशेष महत्व है। हिन्दी साहित्य की शुरूआत पद्य से ही मानी जाती है। भक्ति आंदोलन के कवियों की चर्चा करें तो हम पायेंगे कि इस काल के सभी कवियों ने अपनी मातृभाषा में रचना की। वैसे संस्कृत की सीमा को विद्यापित ने आदिकाल में ही तोड़कर मिथिला के लोक–जीवन को आधार बनाकर अपनी मातृभाषा मैथिली में पदावली की रचना की। संभवतः विद्यापति ने सबसे पहले भाषा की श्रेणीबद्धता को तोड़ा। आधुनिक युग की शुरूआत वैसे तो गद्य साहित्य से ही हुई, किन्तु आगे पद्य ने भी अपना स्थान बनाया। इस युग में कविता के विकास तथा कविता को स्थापित करने में अनुवाद की भूमिका को स्वीकारा जा रहा है। डॉ. रमण सिन्हा का मानना है कि 'द हरमिट' के अनुवाद से काव्य–भाषा के रूप में खड़ी बोली की स्थापना हुई।[22]

आधुनिक युग में नाटक उपन्यास, निबंध, कहानियों में ही खड़ी बोली का आरंभिक विकास दिखाई पड़ता है। श्रीधर पाठक द्वारा ऑलिवर गोल्ड स्मिथ की काव्य–कृति 'द हरमिट' के अनुवाद के बाद से ही खड़ी बोली में कविता का उभार शुरू हुआ। "श्रीधर पाठक ने ऑलिवर गोल्डस्मिथ' की काव्य–कृति 'द हरमिट' (एकांतवासी योगी शीर्षक से) का लोकप्रचलित लय 'लावनी' में अनूदित कर काव्य–भाषा के रूप में खड़ी बोली की अनुपयुक्तता के सभी आरोपों को निराधार सिद्ध किया।"[23] हिन्दी के सुधी पाठकों के बीच श्रीधर पाठक द्वारा किया गया अनुवाद 'एकांतवासी योगी' बहुत लोकप्रिय हुआ। पद्य अपनी जिस लोकप्रियता को खो चुकी थी, और पद्य का जो स्थान गद्य साहित्य ले चुका था, उस स्थान को वापस दिलाने में अनुवाद की महती भूमिका है। वैसे यह चर्चा आगे की जाएगी कि काव्यनुवाद

कितना संभव है? आचार्य रामचंद्र शुक्ल श्रीधर पाठक द्वारा खड़ी बोली में किये गये काव्यानुवाद के विषय में तथा उसकी लोकप्रियता के विषय में लिखते हैं कि "उसकी सीधी–सादी खड़ी बोली और जनता के बीच प्रचलित लय ही ध्यान देने योग्य नहीं है किन्तु उसकी कथा की सार्वभौम मार्मिकता भी ध्यान देने योग्य है। किसी के प्रेम में योगी होना और प्रकृति के निर्जन क्षेत्र में कुटी छाकर रहना ऐसी भावना है जो समान रूप से सब देशों के और सब श्रेणियों के स्त्री–पुरूषों के मर्म का स्पर्श स्वभावतः करती आ रही है। सीधी–सादी खड़ी बोली में अनुवाद करने के लिए ऐसी प्रेम–कहानी चुनना जिसकी मार्मिकता अपढ़ स्त्रियों तक के गीतों की मार्मिकता के मेल में हो, पंडितों की बँधी हुई रूढ़ि से बाहर निकलकर अनुभूति के स्वतंत्र क्षेत्र में आने की प्रवृत्ति का द्योतक है।"[24] किसी भी अनुवाद में और यदि काव्यानुवाद के विशेष संदर्भ में बात करें तो अनुवाद की भाषा जितनी महत्त्वपूर्ण है, उतना ही महत्त्वपूर्ण कृति का चयन और उस कृति का भाव, उसकी मार्मिकता, उसकी गीतात्मकता, उसका लय, आदि भी है। श्रीधर पाठक ने 'एकांतवासी योगी' का अनुवाद करते हुए इन सारी बातों को ध्यान में रखा। तभी तो कहा जाता है कि युवतियाँ इस अनुवाद को तकिये के नीचे रखती थीं। 'एकांतवासी योगी' के अनुवाद के बारे में डॉ. पद्मधर पाठक लिखते हैं कि "....Several girls (some of them Bengali)) being known to have made it their constant companion with which they would not part even at bed time, but would fondly keep it near or under their pillows in order that they might need it the first on rising in the morning this is not tale but an actual fact - and does it not speak volumes for the poem?"[25]

काव्यानुवाद के विषय में एक बात हमेशा विद्वानों के एक समूह द्वारा की जाती है कि काव्य का अनुवाद असंभव है। श्रीधरपाठक के अनुवाद तथा ऐसे ही कई और काव्यानुवाद इस भ्रम को निराधार साबित कर देते हैं। फिर भी इस बात से कतई इन्कार नहीं किया जा सकता है कि साहित्य की तमाम विधाओं की तुलना में काव्य के अनुवाद में जटिलता सबसे अधिक है। काव्य के अनुवाद को असंभव मानने वाले

वर्ग में दांते, जेक देरिदा, रोमन याकोब्सन, वाल्टर बेंजामिन, क्रोंचे, वर्जीनिया, वुल्फ आदि आते हैं।

क्रोंचे का मानना है – "अनुवाद असंभव है।"[26] रोमन याकोब्सन की भी कुछ ऐसी ही मान्यता है जो अनुवाद की संभावना को ही सिरे से ख़ारिज करती है– "काव्य–कला पर शब्द–क्रीड़ा का शासन चलता है और इसका शासन चाहे सीमित हो या निरंकुश; परिभाषा के अनुसार कविता अभाषांतरणीय (Untranslatable) होती है।"[27]

क्रोचे की अनुवाद को लेकर जो मान्यता है, उसका खंडन आगे किया जायेगा। रोमन याकोब्सन काव्य–कला को शब्द क्रीड़ा से जोड़ते हैं। यानि इनके अनुसार शब्द–क्रीड़ा ही काव्य की जान है। शब्दों के व्यवस्थित उपयोग के साथ–साथ किसी भी कविता के लिए उसका भाव भी उतना ही अहम होता है। किसी भी कविता का अनुवाद करते वक्त अनुवादक स्रोत पाठ की भाषिक संरचनाओं को ध्यान में रखने के साथ–साथ उस पाठ की भाव–भंगिमा, उसके मूल भाव को भी ध्यान में रखता है, स्रोत भाषा या स्रोत पाठ के देशकाल–वातावरण, वहाँ की राजनैतिक–सामाजिक परिस्थिति, वहाँ की संस्कृति को भी अनुवाद में लाने का हरसंभव प्रयास करता है और कई अनुवादक इसमें सफल भी हुए हैं।

श्रीधर पाठक का 'एकांतवासी योगी', 'श्रांत पथिक', गड़रिया का आलिम, इसके अलावा पाब्लो नेरूदा, ब्रेख़्त, मायकोवस्की, बोरिस पास्तरनाक आदि की कविताओं के अनुवाद कई भाषाओं में किये गये हैं जिससे साफ स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के अनुवाद किए जा सकते हैं।

रीतारानी पालीवाल का मानना है कि विद्वानों का एक ऐसा वर्ग भी है जो यह मानता है कि "कविता का अनुवाद असंभव नहीं है– वह कठिन अवश्य होता है। काव्यानुवाद की कठिनता को देखते हुए उसे असंभव घोषित कर देना मानवीय क्षमताओं के प्रति अविश्वास प्रकट करना है। इस वर्ग के विद्वानों ने 'असंभव' शब्द को लेकर आश्चर्य प्रकट किया है कि असंभव क्या होता है ? प्रयत्न करने पर मानव के

लिए असंभव कुछ नहीं है। प्रतिभा, बहुज्ञता और अभ्यास से काव्यानुवाद की कठिनता को हल किया जा सकता है। उस वर्ग के समर्थकों में होरेस, क्विण्टीलियन, त्रिसनो, ड्राइडन, पोप और काडवेल आदि को रखा जा सकता है।"[28]

काव्यानुवाद में आनेवाली कठिनाई से इंकार नहीं किया जा सकता, मगर कठिनाई को असंभाव्यता मान लेना उचित नहीं है। किसी भी कविता का अनुवाद, कविता लिखने से ज्यादा कठिन कार्य है। "The translator's task is perhaps even more difficult than that of a writer's for the translator has to work on two languages, not one. So far as common objects are concerned, the problem of meaning, and therefore of equivalence, or one to one correspondence, is easily solved."[29] अनुवादक द्विभाषीए का काम करता है। कविता के प्रत्येक शब्द के भाव को व्यवस्थित क्रम से एक धागे में भाव के साथ पिरोना आसान नहीं होता है। प्रत्येक कवि एक विशेष लय के साथ कविता लिखता है, काव्यानुवाद में इस लय के भंग होने का डर अवश्य बना रहता है। किन्तु कई ऐसे काव्यानुवाद हुए हैं जिनमें कविता के मूल भाव के साथ–साथ उसकी लय की भी रक्षा की गई है। उमर ख़य्याम की रूबाईयों के कई अनुवाद विभिन्न अनुवादकों द्वारा किये जा चुके हैं। उमर ख़य्याम की रूबाइयों का अनुवाद हरिवंश राय बच्चन ने भी किया है और मैथिलीशरण गुप्त ने भी। विभिन्न अनुवादकों द्वारा किये गये अनुवादों में दो–तीन अनुवाद तो वास्तव में मूल कृति की आत्मा को बचाने में सक्षम रहा है। पाब्लो नेरूदा की कविता का अनुवाद श्री चंद्रबली सिंह ने "पाब्लो नेरूदाः कविता संचयन" के नाम से किया है। नेरूदा की कविताओं के कई अनुवादों की तुलना में यह अनुवाद बेहतर है। चंद्रबली सिंह ने अनूदित पुस्तक की भूमिका में लिखा है "अंततः मूल कविताएँ अनुवादक के सामने चुनौती के रूप में उपस्थित हो जाती हैं कि अनुवादक से उनकी वस्तु और रूप के समस्त सौंदर्य के साथ, अपनी भाषा में अनूदित करे। यह काम चुनौती भरा इसलिए भी है कि अनुवाद केवल मूल भाषा में रूपांतर मात्र नहीं बल्कि जैसा कि 'बोरिस पास्तरनाक' ने भी कहा था कि यह लक्ष्य भाषा में जीवन की पुनर्रचना है।"[30]

जाने पर उद्‌भूत होती है। किन्तु वास्तविकता यह है कि यह जोड़ने से अनुवाद में जान आती है, किन्तु वह मूल से और अधिक हट जाता है, क्योंकि जो तत्व जुड़ते हैं, वे प्रायः वही नहीं होते जो छूट जाते हैं, वे प्रायः किसी–न–किसी रूप में उससे भिन्न होते हैं।"[31] यह बात तो तय है कि इस जोड़ने और छोड़ने के परिणामस्वरूप अनुवाद में नये तत्वों और कथ्यों की बढ़ोत्तरी हो जाती है, जिससे अनुवाद की मूल पाठ से दूरी बढ़ जाती है। यह दूरी न तो स्रोत पाठ के लिए ठीक है और न ही लक्ष्य के लिए। "Translator should have a sence of interlingual synonymy. They have also to work against tremendous temptation to improve, enhance change and better the original. But that is not within the scope of translation. So a translator must never be the editor of a book; he must be faithful. Yet has monious and artistic."[32] अनुवाद को मूल से बेहतर बनाने की कोशिश में मूल को गायब करना अनुवाद की छवि पर ही प्रश्न उठाता है। अनुवादक यदि इस बात का ख़्याल रखे कि वह अनुवाद कर रहा है, किसी नई कृति की रचना नहीं, तो मूल पाठ से भटकाव नहीं होगा।

सभ्यता–संस्कृति किसी कृति में कथ्य और कथन, भाषा के विविध रूप तथा नये समाज की कल्पना भी होती है, अतः अनुवाद में इनमें से कई बातें छूट जाती हैं। सभी बातों को कृति की उसी रूप–संरचना में उतार पाना भी कठिन है। कविता साहित्य की तमाम विधाओं से अलग है। डॉ. मैनेजर पांडेय का मानना है कि "कविता दूसरे साहित्य रूपों से अधिक आत्मपरक और वैयक्तिक होती है। उपन्यासकार या नाटककार की तरह कवि परोक्ष में रहने के बदले अपनी आवाज और अंदाज में बोलता है, इसलिए कविता में कवि की आवाज़ और अन्दाजेबयां का विशेष महत्व होता है।"[33] वैसे वैयक्तिकता कमोबेश साहित्य की सभी विधाओं में होती है किन्तु कविता में यह सबसे अधिक होती है। प्रत्येक कवि अपने सामाजिक परिवेश से अपनी रूचि के अनुसार विषय को उठाता है। कवि को समाज की जो बातें सबसे अधिक प्रभावित करती हैं, जिन घटनाओं, दृश्यों से कवि सबसे ज्यादा आहत होता है या फिर आह्लादित होता है, वही उसकी कविता के केन्द्र होते हैं। किसी भी कवि के लिए

घटनाओं, सामाजिक गतिविधियों आदि को आत्मसात करना जरूरी हो जाता है कविता सीधे–सीधे जीवन के अनुभवों से जुड़ी होती है। अतः अनुवादक यदि उसमें काँट–छाँट करता है तो वह मूल के साथ खिलवाड़ करने के सिवाय और कुछ नहीं करता है। डॉ. मैनेजर पांडेय लिखते हैं कि– "कविता में जीवनानुभव या अनुभूति से रूप का संबंध दूसरे साहित्य रूपों की तुलना में अधिक आत्मीय और जटिल होता है। बिंब, प्रतीक, संकेत, फैंटेसी आदि कविता के साधन ही नहीं होते। कई बार साधन और साध्य में अद्वैत या अभेद की स्थिति होती है। फिर लय, छंद और संगीत की आंतरिक संरचना से भी कविता का विशिष्ट रूप बनता है।"[34] डॉ. पाण्डेय की बातों पर गौर करें तो कविता साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में अधिक आत्मीय है। जब तक कविता को अनुवादक पूरी तरह आत्मसात करके उसकी महत्ता को नहीं समझेगा, अनुवाद संप्रेष्य नहीं हो पाएगा।

कविता को उसकी लयात्मकता, उसकी संगीतात्मकता, उसकी छंदोबद्ध शैली की वज़ह से गद्य से अलग किया जा सकता है। कविता के अनुवाद में मूल कविता की लय, उसकी संगीत तथा छंद का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए। कोई भी कविता मूल भाषा के नाद–सौंदर्य या शब्द–संगीत के साथ पूरी तरह गूँथी रहती है। इसे लक्ष्य भाषा में व्यक्त करने में कई समस्याएँ आती हैं। प्रत्येक भाषा की शब्दावली भिन्न होती हैं और शब्दों की ध्वनियाँ भी भिन्न होती हैं। काव्यानुवाद की सबसे बड़ी समस्या यह है कि कविता में अर्थबोध मात्र नहीं कराया जाता है बल्कि अर्थ का बिम्ब–विधान कराया जाता है। बिम्बों की सृष्टि, अलंकार–योजना, प्रतीक योजना लक्षणा–व्यंजना आदि शब्द–शक्तियों, लय, तुक, और छंद आदि के द्वारा की जाती है। अनुवाद में बिंब, प्रतीक योजना, लक्षणा–व्यंजना आदि की रक्षा करने में बहुत समस्या आती है। प्रत्येक भाषा तथा उस विशेष भाषा प्रदेश की कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जिनकी कई बार अनुवादक को भी जानकारी नहीं होती है और ऐसी परिस्थिति में या तो अनुवादक अपने अनुमान और अनुभव के हिसाब से मूल कृति की इन विशेषताओं को बचाना चाहता है अन्यथा बिंब–प्रतीक, लक्षणा–व्यंजना को अनुवाद

से गायब ही कर देता है। ऐसी स्थिति में अनुवाद का स्तर घट जाता है और उसमें कई कमियाँ रह जाती हैं। कई बार कविता में इशारों में ही बातों को रखा जाता है, ऐसी स्थिति में मूल कविता का भाव समझे बग़ैर यदि अनुवाद कर दिया जाता है तो भाव और अर्थ तो संप्रेषित नहीं ही होते हैं, कविता का अर्थ भी बदल जाता है। ग़ालिब का एक शेर है–

मूल – उनके देखे से जो आ जाती है मुख पे रौनक।
वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।

अनुवाद – उनके दर्शन से जो आ जाती है मुख पर ज्योति।
वे समझते हैं कि रोगी की दशा उत्तम हैं।[35]

इसी तरह का एक और उदाहरण है जिसका उर्दू से अंग्रेजी में अनुवाद किया तो गया है किंतु अनुवाद मूल शेर के भाव को सुरक्षित नहीं रख पाया है। 'मीर' का एक प्रसिद्ध शेर है–

मूल – "सिरहाने मीर के आहिस्ता बोलो
अभी टुक रोते–रोते सो गया है।"

अनुवाद – "Hush! at the side of 'His'
He has just wept into slumber.

मीर के शेर में जितनी गहराई है, जिस संवेदना की अभिव्यक्ति शायर ने की है, अनुवाद में उन भावों की झलक नहीं मिलती है। अनुवादक ने सीधा शब्दानुवाद कर दिया है। किसी और अनुवाद में शब्दानुवाद की बात सोची भी जा सकती है, मगर साहित्यानुवाद या काव्यानुवाद के संदर्भ में शब्दानुवाद करना मूल कृति के साथ सबसे अधिक अन्याय होगा। ऐसे अनुवाद पाठकों को मूल कृति का भाव तो व्यक्त नहीं ही कर पाते, साथ ही पाठकों के मन में यह गलत धारणा बनती है कि "काव्यानुवाद करना टेढ़ी खीर है जो चीज वाणी के सूत्र में बँध गई हो उसे एक भाषा से दूसरी भाषा में रुपांतरित करने पर उसकी सारी मधुरता नष्ट हो जाती।"[36]

कविता के अनुवाद की जटिलता संस्कृति और पौराणिक कथा की योजना से और भी बढ़ जाती है। प्रत्येक देश प्रदेश की संस्कृति और पौराणिक कथाएँ एक दूसरे से भिन्न होती हैं। यह भिन्नता ही सांस्कृतिक संदर्भों से युक्त कविताओं के अनुवाद को दुष्कर बनाती है।

उदाहरण के लिए रहीम के निम्नलिखित दोहे को यदि लें जिसमें विष्णु भगवान के वामन अवतार धारण करने का संदर्भ ग्रहण किया गया है–

"रहिमन बिगरी आदि कै, बनै न खर ये ढाय।
हरि बाढ़े आकास लौ, तउ बावन नाम।"

– रहीम

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अन्य किसी देश में विष्णु के वामन अवतार की कथा प्रचलित नहीं है, अतः यदि अनुवादक भारतीय नहीं होगा तो संभव है कि वह इस पौराणिक संदर्भ की महत्ता समझे बगैर शब्दानुवाद कर देगा। डॉ० रीतारानी पालीवाल ऐसे संदर्भों को 'प्रसंग–संकेत' शब्द देती हैं। "काव्यानुवाद में शब्दार्थ के प्रसंग–संकेत (Allusion) और साहचर्य (Association) का प्रश्न भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। रचना में पौराणिक, ऐतिहासिक व्यक्ति, घटना, प्रसंग का उल्लेख 'प्रसंग–संकेत' होता है... 'प्रसंग–संकेत' तथा 'साहचर्य' का कविता के अनुवाद में बड़ा ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि उनकी जड़ें सांस्कृतिक परंपरा में बहुत दूर तक फैली होती है। इनसे अपरिचित अनुवादक इनका ठीक बोध ही नहीं कर पायेगा।"[37] आगे वह धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' का उदाहरण देते हुए समझाती हैं कि कैसे 'प्रसंग–संकेत' आया है–

'हम सबके मन में गहरा उतर गया है युग
अश्वथामा है संजय है अंधियारा है।'

इन पंक्तियों में 'अश्वथामा' और 'संजय' ये दोनों शब्द प्रसंग संकेत रखते है। शब्दों के साथ जो भाव लिप्त है, या रहता है, वही साहचर्य कहलाता है। 'संजय'

कहते ही भारतीय सांस्कृतिक मन में एक विशेष प्रकार के दिव्य दृष्टि संपन्न वयक्ति का उदय हो जाता है।"[38]

किसी भी भाषा या साहित्य के मद्देनजर पौराणिक प्रतीकों दैत्य कथाओं के अनुवाद में यह समस्या चुनौती बनकर आती है। "अनुवाद की एक समस्या यह भी होती है कि पौराणिक प्रतीकों दंत कथाओं आदि के संदर्भ आने पर उन शब्दों को कैसे व्यक्त किया जाय जैसे– भीष्म प्रतिज्ञा, विभीषण आदि के पीछे तो तथ्य और प्रतीकात्मकता छिपी होती है उसे अनुवाद के द्वारा व्यक्त करना कठिन कार्य है, परंतु इसी प्रकृति के पात्रों के जुज के समान यदि लक्ष्य भाषा में कोई पात्र हो तो उनका उल्लेख करना चाहिए"[39]

एक अन्य समस्या काव्यानुवाद की यह है कि किसी भी शब्द–योजना के सौंन्दर्य को दूसरी भाषा में शब्द योजना के द्वारा उत्पन्न किया जा सके। जैसे संस्कृत की कविता में जो संगीत मौजूद रहता है, उसे अंग्रजी, फ्रेंच आदि में उत्पन्न नहीं किया जा सकता। जैसे विद्यापति की मैथिली कविता का हिन्दी अनुवाद बाबा नागार्जुन ने किया है, किंतु मूल भाषा की तरह संगीत योजना हिन्दी में नहीं आ पाई है। जैसे–

मूल– "सैसव जोबन दुहु मिल गेल। स्त्रवनक पथ दुहु लोचन लेल।
वचनक चातुरि लहु–लहु हास। धरनिये चाँद कएल परगास।"

अनुवाद– "बचपन और जवानी दोनों मिल गये हैं। आँखों ने कानों की राह पकड़ ली, तीर चलने लगे। बातचीत में चतुराई आ गई। हँसी की रफ्तार मद्धिम पड़ गई। चांद ने धरती को आलोकित कर दिया।"[40]

यहाँ मूल भाषा और लक्ष्य भाषा दोनों को पढ़ने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों की लय में, संगीत योजना में, गीतात्मकता में कितना अंतर है। अनुवाद में मौलिक रचना जैसा सहज प्रवाह और जीवंता ले आना अनुवादक के लिए चुनौती है।

टी. एस. इलियट की कविताओं का हिन्दी अनुवाद डॉ० कुलदीप सलिल ने किया है। एक उदाहरण द्वारा समझाा जा सकता है कि अनुवादक ने मूल कविता की तरह लय, ध्वनि, संगीत को बचाने का काफी प्रयास किया है।

मूल–

The Love Song of

Let us go theh you an I,
When the evening is spread out against the sky
Like a patient etherised upon or table;
Let us go, through certain half-deserted streets,
The muttering retreats.

— J. Alfred Prufrock

अनुवाद– जे एल्प्रेड प्रूफ़ाक का प्रेम गीत
"उठ, कि चले अब मैं और तू
आसमान के तले शाम जब
पड़े अचेत मेज़ पर एक
पसरी हुई रोगी – सी,
सूनी होती गलियों से
आओ चलें हम"।[41]

डॉ. कुलदीप द्वारा अनूदित कविताओं को पढ़ने के बाद लगता है कि भावों का संप्रेषण हो पा रहा है। अनुवादक कविता की लय, ध्वनि, संगीत को भी बचाने में सफल रहा है।

कई अनुवाद ऐसे होते हैं जिनको पढ़कर मूल कृति–सा आंनद आता है। कहीं भी कोई फाँक नहीं लगती। कई बार तो मूल रचना में ही कुछ खालीपन–का सा आभास होता है। कई अनुवाद ऐसे हैं जिनका पाठ करने के बाद शब्दों में बँधे भाव

के दृश्य सामने आ जाते हैं। पाश की कविताओं का पंजाबी से हिन्दी अनुवाद डॉ. चमनलाल ने किया है। पंजाबी भाषा का कुछ भी ज्ञान न होने पर भी पाठक को कविता को पढ़ने के बाद मूल जैसा ही आभास होता है। उदाहरण के तौर पर एक कविता देखी जा सकती है–

सबसे खतरनाक

मेहनत की लूट सबसे ख़तरनाक नहीं होती
पुलिस की मार सबसे खतरनाक नहीं होती
गद्दारी–लोभ की मुट्ठी सबसे खतरनाक नहीं होती।[42]

इस कविता में कवि की भावनाओं के संप्रेषण में कहीं कोई बाधा नहीं आ रही है। अनुवादक का स्रोत और लक्ष्य भाषा पर समान अधिकार होने से अनुवाद की लयात्मकता, संगीतात्मकता में तो कोई रूकावट नहीं ही आती है, साथ ही अनुवादक और कवि की विचारधारा भी यदि एक ही हो या मिलती–जुलती हो तब समस्या और भी कम हो जाती है।

तमाम अन्य विधाओं की ही तरह अनुवाद पर भी विचारधारा का प्रभाव देखा जाता है। तीसरे अध्याय में इस पर चर्चा की जाएगी। किसी भी अनुवाद के संदर्भ में यह सवाल तो स्वाभाविक रूप से आता है कि अनुवाद किसके लिए है, और क्यों है और इसका पाठक कौन है? "The central concern of translation studies could thus be defined as a study and analysis of "who translates what for whom. Where and why".[43]

किसी भी पाठ के अनुवाद के पीछे अनुवाद की विशिष्ट दृष्टि कार्य करती है। वगैर किसी विचार के अनुवादक अनुवाद नहीं कर सकता है। अनुवाद करते हुए अनुवादक को उस रचना से तादात्म्य स्थापित करना होता है। अनुवादक उस रचना से भी संवाद करता है, रचनाकार से भी। रचना के परिवेश को भी जीता है और देशकाल में घुसकर उसकी छानबीन भी करता है और यह रुचि उस रचना के अनुवाद सकारात्मक संकेत हैं।

बहरहाल, अनुवाद के विभिन्न पक्षों पर विचार करते हुए एक बात तो तय है कि अनुवाद का सरोकार जितना समाज के विभिन्न पक्षों से है, उतना ही इतिहास से और सभ्यता–संस्कृति से भी है। दुनिया भर में मानव–सभ्यता को बेहतर बनाने में, दुनिया भर में मानव–सभ्यता संस्कृति निर्माण में मनुष्यों का योगदान कहीं व्यक्तिगत है तो कहीं सामुदायिक। कहीं साहित्यिक विधा का योगदान है तो कहीं किसी खास संगीत, नृत्य, दर्शन, राजनीति आदि का। इन सब योगदान के साथ–साथ सामाजिक–सांस्कृतिक विकास की भूमिका में अनुवाद का योगदान किसी भी तरह से कमतर नहीं है। अनुवाद के इस योगदान को कई स्तरों पर स्वीकार किया गया है। अतः विश्व–संस्कृति के निर्माण में अनुवाद तथा विभिन्न भाषा–भाषी अनुवादक की विशिष्ठ भूमिका है।

संदर्भ सूची

[1] अनुवाद शिल्प : समकालीन संदर्भ, डॉ. कुसुम अग्रवाल, पृ. 13

[2] अनुवाद : सिद्धांत और प्रयोग, जी गोपीनाथ, पृ. 9 पर उद्धृत

[3] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, डॉ. मैनेजर पांडेय, पृ. XI

[4] अनुवाद विज्ञानः सिद्धांत एवं अनुप्रयोग, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 112

[5] वही, पृ. 1 पर उद्धृत

[6] वही, पृ. 49 पर उद्धृत

[7] अनुवाद सिद्धांत और प्रयोग, जी. गोपीनाथ, पृ. 10

[8] अनुवाद विज्ञान : सिद्धांत और अनुप्रयोग, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 17

[9] सुर्ख और स्याह, स्तानधाल, अनु. नेमिचंद जैन, पृ. 5

[10] अनुवाद सिद्धांत और प्रयोग, जी. गोपीनाथ, पृ. 11

[11] नवीन चंद सहगल, काव्यनुवाद : सिद्धांत और समस्याएँ, पृ. 08 पर उद्धृत

[12] काव्यानुवाद : सिद्धांत और समस्याएँ – नवीन चंद सहगल, पृ 09 पर उद्धृत

[13] वही, पृ. 8–9 पर उद्धृत

[14] परख–4, पृ. 67

[15] अनुवाद : सिद्धांत और प्रयोग, जी. गोपीनाथ, पृ. 9

[16] अनुवाद : सिद्धांत एवं व्यवहार, डॉ. जयन्ती प्र. नौटियाल, पृ. 43

[17] वही, पृ. 43

[18] अनुवाद और रचना का उत्तर–जीवन, डॉ. रमण सिन्हा, पृ. 13

[19] वही, पृ. 39 पर उद्धृत

[20] वही, पृ. 40

[21] अनुवाद सिद्धांत एवं व्यवहार, डॉ. अनुज प्रताप सिंह, पृ. 252 से उद्धृत

[22] अनुवाद और रचना का उत्तर–जीवन, डॉ. रमण सिन्हा, पृ. 53

[23] वही, पृ. 54

[24] हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 408

[25] डॉ. पद्मधर पाठक (सं.) श्रीधर पाठक ग्रंथावली (खंड–2) पृ. 37

[26] अनुवाद प्रक्रिया एवं परिदृश्य, डॉ. रीतारानी पालीवाल, पृ. 69 से उद्धृत

[27] अनुवाद और रचना का उत्तर–जीवन, डॉ. रमण सिन्हा, पृ. 66 से उद्धृत

[28] अनुवाद प्रक्रिया एवं परिदृश्य, रीतारानी पालीवाल, पृ. 69

[29] R.S. Gupta, Literary Translation, (ed.), p. 67

[30] पाब्लो नेरूदा, कविता संचयन, हिन्दी अनुवाद, अनुवादक चंद्रबली सिंह, पृ. 19

[31] अनुवाद विज्ञान, भोलानाथ तिवारी, पृ. 117

[32] R.S. Gupta, Literary Translation, (ed-), p. 68

[33] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, पृ. 224

[34] वही, पृ. 225

[35] सरदार मुजावर, हिन्दी ग़ज़लकारों की नज़र में, पृ. 56

[36] अनुवाद शिल्प : समकालीन–संदर्भ – डॉ० कुसुम अग्रवाल, पृ. 106 पर उद्धृत

[37] अनुवाद प्रक्रिया एंव परिदृश्य – डॉ० रीतारानी पालीवाल, पृ. 77

[38] वही, पृ. 77

[39] अनुवाद : सिद्धान्त एंव व्यवहार – डॉ० जयन्ती प्र. नौटियाल, पृ. 54

[40] नागार्जुन रचनावली – 3, पृ. 444

[41] अंग्रेजी के श्रेष्ठ कवि और उनकी कविताएँ–अनुवादकः कुलदीप सलिल, पृ. 142–143

[42] पाश, समय ओ भाई, पृ. 19

[43] Shanta Ramakrishna, Translation and Multilingualism post–colonial context, (ed:), p. 185

तीसरा अध्याय

नागार्जुन के द्वारा हिन्दी में अनूदित 'विद्यापति पदावली' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

क. हिन्दी और मैथिली का भाषिक और संस्कृति अंतर्संबंध

ख. पदावली के विविध अनुवाद

ग. नागार्जुन के द्वारा हिन्दी में अनूदित 'विद्यापति पदावली' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

क. हिन्दी और मैथिली का भाषिक और सांस्कृतिक अंतर्संबंध

हिन्दी और मैथिली के भाषायी और सांस्कृतिक अंतर्संबंधों की चर्चा करते हुए सबसे पहले भाषा और संस्कृति के आपसी रिश्ते पर बात होनी चाहिए। किसी संस्कृति का एक आवश्यक अवयव उसकी भाषा होती है। फिर उस संस्कृति की कई विशेषताएँ भाषा के माध्यम से ही प्रकट होती चलती है। दोनों की जटिल अन्तर्निर्भरता भाषा और संस्कृति की बदलती अवधारणाओं से और भी स्पष्ट होती आई है। रेमंड विलियम्स लिखते हैं–

"In the complex development of the concept of 'Culture', which has of course now been incorporated into so many different systems and practices, there is one decisive question which was returned to again and again in the formative period of the eighteenth and early nineteenth centuries but which was on the whole missed, or at least not developed, in the first stage of Marxism. This is the question of human language, which was an understandable pre occupation of the historians of 'civilization', and a central, even a defining question, for the theorists of a constitutive process of 'culture' from Vico to Herder and beyond. Indeed, to understand the full implication of the idea of a 'constitutive human process' it is to changing concepts of language that we must turn.".[1]

रेमंड विलियम्स दिखाते हैं कि संस्कृति शब्द की विविध परिभाषाएँ कैसे ऐतिहासिक रूप से विकसित हुई। 'जीवन के ढंग' के रूप में किसी खास सामाजिक प्रक्रिया के विकास के चरण में संस्कृतियाँ विकसित होती हैं या फिर मनुष्य जीवन की कोई एक सार्वभौमिक आंतरिक संस्कृति होती है अथवा वर्ग–विभेदित वर्त्तमान पूंजीवादी समाज के भीतर बुर्जुआ या सर्वहारा संस्कृति जैसी कोई चीज़ होती है– इन्हें लेकर लंबी बहस है। संस्कृति शब्द की जटिलता के साथ भाषा आवश्यक रूप से जुड़ी है। संस्कृति "...becomes a noun of 'inner' process, specialized to its presumed agencies in intellectual life' and 'the arts'. It becomes also a noun of

general process, specialized to its presumed configurations in 'whole ways of life'.[2]

इसके साथ ही बौद्धिक जीवन तथा कला, साहित्य या जीवन पद्धतियों की व्याख्या, यहाँ तक कि भाषा की व्याख्या भी 'भाषा' में ही होने को बाध्य है। इन सारी जटिलताओं के साथ ऐतिहासिक रूप से संस्कृति और भाषा के अंतर्संबंधों की पड़ताल होनी चाहिए। इस लंबे विवाद में जाने की यहाँ ज़रूरत नहीं है। इसके बावजूद जब मैथिली और हिन्दी भाषा की संस्कृति के संबंधों की बात हम कर रहे हैं तो उनके ऐतिहासिक विकास पर चलती हुई चर्चा पर दृष्टि डालना आवश्यक है।

मैथिली भाषा एवं संस्कृति की विशिष्टता को आसानी से रेखांकित किया जा सकता है। 'अवहट्ट' से पुरानी मैथिली एवं मैथिली के आधुनिक रूप तक की प्रक्रिया संग्रह–त्याग और मिश्रण की लंबी प्रक्रिया से गुजरी है। इसके साथ–साथ भौगोलिक रूप से तिरहुत का पूरा नदी–मातृक प्रदेश अपने सामाजिक विकास प्रक्रिया में कई विशिष्टताएँ भी अर्जित–संवर्द्धित करता आया है। यह बात अलग है कि 'विशिष्टता' का ऐसा चयन किसी भी समाज के भीतर किया जा सकता है और इसके प्रति चयन की जो दृष्टि होती है और जो विशिष्ट संस्कृति की बात करते हुए आक्रामक स्वायत्तता बनाने की कोशिश करती है– घातक होती है। और आज के सांस्कृतिक विमर्शों में स्थानीयताओं का यह आग्रह बड़े जोरों पर है– जो अपने तार्किक राजनीतिक परिणतियों में फासिस्ट चरित्र का ही है।[3]

बहरहाल, मैथिली भाषा एवं संस्कृति की बात तो बहुत हद तक समझ में आती है लेकिन हिन्दी भाषा एवं संस्कृति का क्या तात्पर्य है? हिन्दी भाषा से तात्पर्य अगर खड़ी बोली है तो खड़ी बोली की ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया और स्वतंत्रता आंदोलन और गणतंत्र के निर्माण के बाद उसकी स्थिति को देखते हुए मुझे हिन्दी संस्कृति जैसी किसी चीज़ की सार्थकता नज़र नहीं आती। आमतौर पर जिसे हिन्दी क्षेत्र कहा जाता है वहाँ भिन्न–भिन्न भाषाओं और संस्कृतियों के दर्शन होते हैं। कृषि प्रधान यह क्षेत्र अपने सामाजिक विकास की लगभग एक ही अवस्था में है। इसलिए अर्द्ध औपनिवेशिक–अर्द्धसामंती इस समाज की बहुत सारी ऊपरी ढाँचें की निर्मितियाँ

कमोबेश एक ही है। मैं यहाँ आधार और अधिरचना के बीच किसी निर्धारणवाद (Determinism) के पुराने तर्क को पुष्ट नहीं कर रही हूँ। लेकिन संस्कृति के ठोस और भौतिक आधार की चर्चा तो होनी ही चाहिए। लोककलाओं, लोकगीतों, विवाह संस्कार, पूजा–पाठ, लोक कथाओं आदि की ही बात की जाय तो अलग–अलग भाषाओं में व्यक्त होने के बावजूद इनकी विषय वस्तु लगभग एक ही ढर्रे पर चलती है। मिथिला क्षेत्र के आसपास नेपाल के मधेशी क्षेत्र से लेकर मगधी, भोजपुरी और बंगाली क्षेत्र तक इतनी चीज़ें एक दूसरे से जुड़ी है कि विशिष्टता का अगर विशेष आग्रह न किया जाय तो कोई अलग संस्कृति नज़र नहीं आएगी। लोकोक्तियों एवं लोककथाओं में अद्‌भुत समानता है। लोकनाट्य शैलियों में मध्यकालीन सामंती व्यवस्था के भीतर भक्ति एवं शृंगार के विविध रूपों के अलावा आम श्रमिक जीवन की झांकियों को ही अपने आलोचनात्मक तेवर के साथ प्रस्तुत किया गया है। 'विदेशिया', 'विदापत', 'नचारी' से लेकर 'तमाशा', 'नौटंकी' एवं 'यात्रा' तक की विविध लोकनाट्य शैलियाँ अपनी अलग–अलग विशेषताओं के बावजूद एक 'संवाद' की उपज हैं। कथा वाचन और कथा गायन की ग्रामीण परंपरा लगभग पूरे 'हिन्दी प्रदेश' में है। विकास के एक खास चरण में 'मधुबनी पेंटिंग' की प्रसिद्धि व्यावसायिकता एवं बाज़ार की देन है। जबकि ग्रामीण कला रूप अपने आंतरिक आधार के और प्रेरणा के समान होने पर भी स्थान भेद से भिन्न स्वरूप ले लेती हैं और सीधे श्रम से जुड़कर अपने ख़ास अनगढ़पन में भी विशिष्ट होती हैं। उनमें श्रेष्ठता की श्रेणीबद्धता उचित नहीं है। कहने का मतलब कि संस्कृतियों की अंतर्संबद्धता और उनका आपसी संवाद हर युग में एवं हर हाल में लगातार होता रहता है। आज गोनू झा की कहानियाँ अपने थोड़े–बहुत बदले रूप में पूरे 'हिन्दी क्षेत्र' में प्रचलित हैं जैसे कि 'बीरबल की कहानियाँ' या दक्षिण के 'तेनालीरामन की कहानियाँ' और अखिलेश झा की इस बात से सहमत नहीं हुआ जा सकता कि मिथिला में जाति–व्यवस्था का चरित्र शोषणकारी नहीं रहा है तथा "मिथिला की गणना हम भारत के निर्धनतम क्षेत्रों में कर सकते हैं। यह निर्धनता किसी खास वर्ग या जाति में नहीं है– हर वर्ग एवं जाति में घोर निर्धनता मिलती है।

यहाँ भी राजे–महराजे बड़ी संख्या में हुए, सामंत भी हुए, परन्तु सामंतवादी प्रवृत्तियाँ यहाँ नहीं के बराबर दिखती हैं। लोगों ने संतोष से अभाव पर विजय पाना सीखा।"[4]

अब अखिलेश झा भारतीय संस्कृति की समाहार क्षमता पर विश्वास करते हैं और वर्ग, जाति तथा सामंतवादी प्रवृत्तियों की अपनी परिभाषा गढ़ते हैं तो उनकी सामाजिक विश्लेषण क्षमता और ऐतिहासिक समझदारी के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता और ये मान्यताएँ संस्कृति संबंधी उस 'कॉमनसेंस' से निकलती है जहाँ उत्पीड़ितों की संस्कृति का निषेध करते हुए, आधारभूत वर्ग विभेदों का निषेध करते हुए संस्कृति की अवधारणा काम करती है।

बहरहाल, स्थानीय संस्कृतियों और उनके आपसी संबंधों की चर्चा आज सांस्कृतिक विमर्शों के जिस दौर से गुज़र रही है वहाँ अमूर्त्तन का काफी ख़तरा है। ज़रूरत है तथाकथित हिन्दी क्षेत्र के भीतर भी इस तरह के विमर्शों का ठोस आधार पर विश्लेषण किया जाय और उसे जनता के कॉमनसेंस को तोड़ते हुए प्रतिष्ठित किया जाय।

हिन्दी और मैथिली दोनों ही हिन्दी प्रदेश की भाषाएँ हैं। मध्य देश में बोली जाने वाली अनेक भाषाओं में मैथिली का प्रमुख स्थान है। हिन्दी और मैथिली दोनों ही भाषाएँ भारोपीय परिवार की भाषाएँ है। एक ही परिवार की भाषा होने की वजह से ज़ाहिर है इनमें गहरा संबंध है। गहरा संबंध होने का अर्थ यह कतई नहीं लगाया जाना चाहिए कि इनमें कुछ भिन्नता नहीं है। भिन्नता न होने की स्थिति में दोनों भाषाओं का अलग–अलग अस्तित्व ही नहीं रहता। दोनों ही भाषाओं की अलग पहचान है। पहचान, क्षेत्र, बोलने वाले समूह और साहित्य अलग–अलग होने के बावजूद भी दोनों भाषाओं में अंतर्संबंध है, यह सच्चाई है; इसके तथ्य मौजूद हैं।

दोनों ही भाषाओं के अंतर्संबंध पर विचार करने के लिए इन भाषाओं के पद और वाक्य–संरचना को प्रभावित करने वाले कारक तत्वों पर विचार करना होगा। पद और वाक्य–संरचना किसी भी वाक्य में संज्ञा, सर्वनाम आदि का क्रिया के साथ क्या संबंध है, लिंग, वचन, काल, पुरूष और वाच्य की वाक्य में क्या स्थिति है, उनका पद

और वाक्य के अन्य व्याकरणिक तत्त्वों के साथ क्या संबंध है, इसे व्यक्त करता है। इसी क्रम में दोनों भाषाओं के अंतर्संबंध सामने आएंगे।

मैथिली और हिन्दी की लिपि में भिन्नता है। आम धारणा है कि दोनों ही भाषाओं की लिपि देवनागरी है, मगर यह आधा सच है। हिन्दी की लिपि देवनागरी अवश्य है, किन्तु मैथिली की लिपि मिथिलाक्षर या तिरहुता के नाम से जानी जाती है। "मैथिली भाषा मिथिला में प्रचलित तीन लिपियों में लिखी जाती है– नागरी, मिथिलाक्षर और कैथी।"[5] वर्तमान में हिन्दी और मैथिली लिपि की तुलना करने पर उनमें एकाध अंतर ऐसे मिलते हैं, जिन्हें रेखांकित किया जा सकता है। असल में संस्कृत की रचनाएँ देवनागरी लिपि में की जाती थी और वे मुद्रित उपलब्ध हो जाती थीं, ऐसी स्थिति में मैथिली की रचना भी नागरी में की जाने लगी। "संस्कृत के ग्रंथ लिपि में मुद्रित होकर उपलब्ध हो गए तब प्राचीन परंपरा के पंडितों में भी मिथिलाक्षर का प्रचार घटता गया और मिथिला में भी नागरी का एकछत्र राज्य हो गया।"[6] 1936 के आस–पास 'मिथिलाक्षरांकन प्रबंधक समिति' तथा साहित्य अकादमी के प्रयास से इस लिपि का काँटा बनवाया गया और पुस्तकें मुद्रित करवाई गईं किन्तु "अब मैथिलों ने सदा के लिए नागरी लिपि को अपना लिया है और मिथिलाक्षर केवल शोभा के लिए पुस्तकों के नाम में व्यवहृत है।"[7] मिथिलाक्षर में प्रत्येक शब्दों को दीर्घता दी जाती है। जैसे घर को घऽऽर। लिपि की सरलता को देखते हुए अब नागरी मिथिलाक्षर का स्थान ले चुकी है।

किसी भी भाषा की समानता और भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए उसकी वाक्य संरचना पर और उसके शब्दसमूह, लिंग, वचन, कारक, पुरूष, काल की वाक्य में क्या स्थिति है, इसकी पड़ताल की जानी चाहिए।

वाक्य में अर्थ और संबंध के अनुसार व्याकरणिक तत्त्वों का क्रम आवश्यक है। हिन्दी वाक्य में उद्देश्य पहले आता है तथा विधेय क्रमशः उसके बाद।

जैसे– अंजू घर गई।

यहाँ **अंजू** उद्देश्य है तथा **घर गई** विधेय है।

मैथिली में भी स्थिति भिन्न नहीं है। जैसे– **राम अयलाह।** यहाँ **राम** उद्देश्य है और 'अयलाह' विधेय है। अतः दोनों भाषाओं की वाक्य संरचना में भिन्नता नहीं है।

किसी भी भाषा की संरचना में लिंग की महत्त्वपूर्ण स्थिति होती है। लिंग के द्वारा पद या वाक्य की पहचान की जाती है। प्राचीन मैथिली में लिंग की स्थिति वर्त्तमान मैथिली से भिन्न थी और खड़ी बोली की ही तरह थी। नवीन मैथिली में लिंग की कोई बाध्यता नहीं है। मैथिली वाक्य में लिंग वहाँ स्पष्ट होता है जहाँ आदरसूचक भाव होते हैं। लिंग न तो संज्ञा के अनुसार बदलता है और न ही कर्त्ता के अनुसार। मैथिली में विशेषण के लिंग बदलते हैं विशेष्य के अनुकूल। जैसे–

1. दमयन्ती बड़ बुद्धिमती छलीह।
2. नल राजा सफल सारथी छलाह।

हिन्दी की वाक्य संरचना में लिंग की स्थिति स्पष्ट है। संज्ञा या कर्त्ता के अनुसार लिंग परिवर्तन होता है।

1. श्यामा गाती है। (स्त्री.)
2. अखिल गाता है। (पु.)

हिन्दी और मैथिली में लिंग को लेकर यह अंतर साफ दिखता है।

मैथिली के क्रियारूप मगही के अलावा हिन्दी प्रदेश की अन्य भाषाओं से अलग हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि क्रिया के रूप कर्त्ता और कर्म में आदर–अनादर की भावनानुसार परिवर्तित होते हैं। अतः इसके रूपों में अधिकता आ जाती है।[8]

क्रिया की चर्चा में उस क्रिया से लगे उसके अनुषंगी भावों की भी बात आती है। मैथिली में इन भावों की संख्या सबसे अधिक है। "मैथिली में इन भावों की संख्या जितनी अधिक है उतनी शायद ही किसी अन्य भाषा में देखी जाती है। इसी के चलते मैथिली की धातु–रूपावली सभी आर्य–भाषाओं के बीच जटिलतम और विस्तृतम है।"[9]

मैथिली में क्रिया के रूपों में भिन्नता मिलती है। नगार्जुन लिखते हैं– "मैथिली व्याकरण हिन्दी व्याकरण से भिन्न अछि। ओकर अपन कितपय विशेषता छै। धातुक भूतकालक विलक्षणताक लेल एक टा उदहारण देखू–

मारलियनि	(मैंने उन (बड़े) को मारा)
मारलहुन	(तुम या तूने उन (बड़े) को मारा)
मारलथिन	(उन (बड़े) ने उस (छोटे) या उन (बड़े) को मारा)
मारलकनि	(उस (छोटे) ने उन (बड़े) को मारा)
मारलथुन	(उन (बड़े) ने तुम्हें या मुझे मारा)
मारलनि	(उन (बड़े) ने हमें या मुझे मारा)
मारलह	(तुमने मुझे मारा)
मारलहुक	(तुमने उस (छोटे) या उन (बड़े) को मारा)
मारलें	(तू (छोटे) ने उस (छोटे) को मारा)
मारलही	(तू (छोटे) ने उस (छोटे) को मारा)

हिन्दी में केवल 'मारा' कहला सं काज नहि चलत।"[10] हिन्दी में बिना कर्त्ता, कर्म के केवल धातु के रूप बदलने से अर्थ स्पष्ट नहीं होगा। "भारतक कोन भाषा में एहि प्रकारक विशेषता मौजूद अछि, भाषा विज्ञान के धुरंधर लोकिन कहथु।"[11] कर्त्ता, कर्म, लिंग, वचन आदि के केवल क्रिया रूप के आधार पर वाक्य का बोध अन्य किसी भाषा में तो संभव नहीं लगता।

हिन्दी में वचन के दो प्रयोग होते हैं तथा कुछ संज्ञा शब्द तो बहुवचन में ही प्रयुक्त होते हैं। कुछ शब्दों के बहुवचन बनाने के लिए प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। जैसे– घोड़े, लड़के, कुत्ते (ऐ), कलियाँ, लड़कियाँ (आँ), किताबें (एँ), भाइयों! बहनों (ओ)! इत्यादि। मैथिली में वचन का प्रयोग नहीं के बराबर होता है। "मागधी वर्ग की भाषाएँ, कई ऐतिहासिक कारणों से, सरलीकरण की ओर बहुत ही तीव्र गति से बढ़ती गई हैं, अतः स्वाभाविक ही है कि इन भाषाओं ने अपने उद्भव काल में ही वचन–सूचक व्याकरणिक उपादानों को समाप्त कर दिया। ध्यान देने की बात है कि

जहाँ लिंग का जटिल बंधन इन भाषाओं में यही दो–तीन शतक पहले टूटा है वहाँ वचन का झमेला इनमें आधुनिक भाषाओं के जन्मकाल में ही छूट गया।"[12] अब मैथिली भाषा में वचन की कोई अनिवार्यता नहीं है। मगर यह कहना कि वचन के प्रयोग एकदम खत्म हो गए हैं, ठीक नहीं है। भोलानाथ तिवारी लिखते हैं– "सहरसा जिले के पँचगुछिया गाँव के एक मैथिल ब्राह्मण की भाषा में मध्यम पुरूष में तो वचन–भेद मुझे सर्वत्र मिला। जैसे, 'तो चलै छै' (तू चलता है), 'तो सब चलै छह' (तुम सब चलते हो); या 'तो चल' (तू चल), 'तो चलअ' (तुम चलो), या 'तों चलिहे' (तू चलेगा), 'तो सब चलिहअ' (तुम सब चलोगे), इत्यादि।"[13] संभव है कि मिथिला के एकाध क्षेत्र में ऐसे उदाहरण मिलते हों, किन्तु इस आधार पर यह कतई नहीं कहा जा सकता है कि वचन के ये भेद नियमित रूप से मिलते हैं। वाक्य में लिंग, वचन, क्रिया, कर्म आदि की इन्हीं स्थितियों को ध्यान में रखकर मैथिल कवि नागार्जुन ने लिखा होगा– "बिना कर्त्ता या बिना कर्मक, बिना लिंगक आ बिना वचनक मैथिलीक क्रियापद वाक्य–बोध करा दैत अछि।"[14]

किसी भाषा के वाक्य निर्माण में कारक, संज्ञा, सर्वनाम के अन्य रूपों के साथ वाक्य का संबंध सूचित करता है। हिन्दी और मैथिली दोनों भाषाओं में कारक के आठ भेद हैं। दोनों के भेदों की संख्या समान हैं किन्तु इनके चिह्नों में भिन्नता है। हिन्दी में कर्त्ता का चिह्न 'ने' होता है, वहीं मैथिली में कर्त्ता का कोई चिह्न मौजूद नहीं है।

मैथिली और हिन्दी की वाक्य संरचना में सर्वनाम पर बात करना ज़रूरी लगता है। दोनों भाषाओं में सर्वनाम के छः भेद होते हैं। यद्यपि मैथिली में इन छः भेदों के भी कई उपभेद हैं। अतः मैथिली में सर्वनाम के कई रूप मिलते हैं। एक उदाहरण से देखा जा सकता है कि मैथिली में सर्वनाम की कितनी अधिकता है। तू के सर्वनाम रूप उदाहरण स्वरूप दिए जा रहे हैं–

मध्यम पुरूष

प्रकृति	कारक	एकवचन	बहुवचन	अधःकक्ष	समकक्ष
सरल	कर्त्ता	तू, तूँ, तोँ	तोहे, तोँ	तोरा लोकनि	तोहरा लोकनि
तियर्क	कर्म	तोरा, तोहि	तोरा, तोहि	तोरा लोकनिकेँ	तोहरा लोकनिकेँ
तियर्क	करण	तोरेँ, तोहिसँ	तोहरेँ, तोहिसँ	तोरा लोकनिसँ	तोहरा लोकनिसँ
तियर्क	संप्रदान	तोरा, तोहि	तोहरा, तोहि	तोरा लोकनिकेँ	तोहरा लोकनिकेँ
तियर्क	अपादान	तोरासँ, तोहिसँ	तोहरासँ, तोहिसँ	तोरा, लोकनिसँ	तोहरा लोकनिसँ
तियर्क	अधिकरण	तोरामे, तोहिमे	तोहरामे, तोहिमे	तोरा लोकनिमे	तोहरा लोकनिमे
संबंधीय	संबंध	तोर	तोहर	तोरा लोकनिक	तोहरा लोकनिक
संबंधीय तिर्यक	संबंध	तोर	तोहरा		

– तालिका[15]

सर्वनाम का 'तू' रूप प्राचीन मैथिली में भी प्रयुक्त होता था और नवीन मैथिली में भी होता है।

तू जएबेँ (तुम जाओगे)

हिन्दी में भी तू सर्वनाम है। अब हिन्दी के 'तू' सर्वनाम का, मध्यम पुरूष में विभिन्न रूप देखते हैं।

मध्यम पुरूष 'तू'

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	तू, तूने	तुमलोगों ने
कर्म	तुझे, तुझको	तुमलोगों को
करण	तुझसे	तुमलोगों से
संप्रदान	तुझे, तेरे लिए, तुम्हारे लिए	तुमलोगों के लिए
अपादान	तुझसे	तुमलोगों से
संबंध	तेरा, तेरे, तेरी	तुमलोगों का, तुमलोगों के, तुमलोगों की
अधिकरण	तुझपर, तुझमें	तुमलोगों पर, तुमलोगों में

– उपरोक्त सूची[16]

दोनों भाषाओं के 'तू' रूप को देखने से दोनों की कहीं–कहीं समानता और उनके अंतर को साफ–साफ देखा जा सकता है। मैथिली में सर्वनाम के रूप बहुत अधिक हैं। हिन्दी में अपेक्षाकृत कम हैं। मैथिली में सर्वनामों की अधिकता से गैर मैथिली भाषी के लिए इनमें अंतर करना कठिन हो जाता है। हिन्दी भाषी के लिए भी सर्वनाम का यह रूप सुलझाना आसान नहीं होता।

दोनों भाषाओं के काल की तुलना करने पर अधिक भिन्नता नहीं है। समानता ही अधिक है।

मैथिली एवं हिन्दी दोनों ही भाषाओं में शब्दों को पचाने की अद्‌भुत क्षमता है। जहाँ मैथिली में संस्कृत अरबी–फ़ारसी, उर्दू, बांग्ला, अंग्रेज़ी आदि भाषा के शब्द अक्सर ही मिल जाते हैं, वहीं हिन्दी में भी इन भाषाओं के शब्दों का दखल खूब है।

भारत की सभी भाषाओं पर अरबी–फ़ारसी भाषा का बहुत प्रभाव पड़ा। किन्तु मैथिली पर यह प्रभाव बहुत कम पड़ा है। "मैथिली के विषय में एक बात प्रेक्षणीय है

कि फारसी शब्दों का प्रवेश मैथिली में अन्य सभी नभाओं की तुलना में बहुत कम और बहुत बाद में हुआ है।"[17]

दोनों भाषाओं की शब्द संपदा असीम है। हिन्दी में तो शब्दों को पचाने की अद्‌भुत क्षमता है ही, मैथिली भी कहीं इसमें पीछे नहीं है। डॉ. ग्रियसर्न का मानना है कि मैथिली की पाचन शक्ति अद्‌भुत है। मैथिल कवि नागार्जुन का भी ऐसा ही कुछ मत है। "मगहीक नब्बे प्रतिशत शब्द सभ के ओ पचा गेल अछि। गोरखाली, नेवाड़ी आ संथालीक सैकड़ों शब्द अपन सुविधानुसार मैथिली ल लेलक अछि। संस्कृत–प्राकृत पालि–अप्रभंश सं अरबी–फारसी तुर्की सं आ अंग्रेजी सं लेल गेल शब्द सभक भारी संख्या हमरा ओत मौजूद अछि।"[18]

मध्यकालीन मैथिली में अरबी–फ़ारसी के शब्दों की संख्या अधिक थी। वर्तमान में लगभग सभी भाषाओं पर अंग्रेज़ी का प्रभाव अधिक है। इससे न तो मैथिली वंचित है और न ही हिन्दी क्योंकि दोनों ही भाषाओं के क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से अलग नहीं हैं। हिन्दी का जो क्षेत्र है, मैथिली उसी के अंतर्गत आती है। दोनों भाषाओं की संस्कृति, उनके सामाजिक परिवेश में बहुत अंतर नहीं है। एक ही प्रदेश के अंदर बोली जानेवाली इन भाषाओं में थोड़ी–बहुत भिन्नता तो अवश्य है यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता है कि इनमें उतनी भिन्नता है जितनी तमिल और भोजपुरी में या फिर मणिपुरी और राजस्थानी में।

इन दोनों भाषाओं के सांस्कृतिक–सामाजिक संबंध में बहुत समानता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दोनों भाषाओं की सभ्यता–संस्कृति, उनके परिवेश, उनकी सांस्कृतिक शब्दावली में अंतर है ही नहीं। हिन्दी भाषा का परिवेश तथा उसकी सांस्कृतिक शब्दावली की साझेदारी मैथिली भाषी करते हैं। मैथिली भाषा के लिए न तो हिन्दी की शब्दावली नवीन होगी, न ही हिन्दी भाषा या हिन्दी प्रदेश की संस्कृति। कोई भी मैथिली भाषी हिन्दी साहित्य को समझ सकता है, किन्तु यही स्थिति हिन्दी

के साथ नहीं है। कोई भी हिन्दी भाषी मैथिली भाषा को ठीक–ठीक समझ भी नहीं सकता है। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'मैथिली और हिन्दी' शीर्षक से एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने लिखा था– "मैथिली कोनों भाषा नहि, अपितु एक टा बोली मात्र अछि आ हिंदीक महासमुद्र में सर्वथा विलीन भ जयबहि में ओकर कल्याण छै।"[19]

ऐसा नहीं है कि मैथिली का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। डॉ. नामवर सिंह का तो मानना है कि मैथिली का अस्तित्व हिन्दी से बहुत पहले से है।"हिन्दी का इतिहास मैथिली से शुरू होता है और मैथिली साहित्य विद्यापति से पहले शुरू हो चुका था।"[20] मैथिली और हिन्दी के भाषाविज्ञान, उसकी शब्द संपदा तथा प्रकृति पर विचार करने से दोनों की अलग–अलग पहचान की जा सकती है।

नागार्जुन भारतीय साहित्य के ऐसे कवि हैं जो एक साथ संस्कृत, बांग्ला, मैथिली और हिन्दी भाषाओं में रचना कर रहे थे। उन्होंने हिन्दी और मैथिली में भेद करते हुए साफ लिखा है कि दोनों भाषाएँ एक नहीं हैं। 'मैथिली ओ हिन्दी' नामक लेख में मैथिली के कुछ उदाहरण देते हुए वे कहते हैं– "एहि में सं कोनो एक टा अहां ल 'लिय' आ अनुवाद करू ओकर हिन्दी वा उर्दू में देखी भला।"[21] मध्यकालीन मैथिली का अनुवाद करना भी आसान नहीं है। बाबा लिखते हैं कि "जाहिनां विद्यापतिक पद सभ के अहां नइं पचा सकलहुं, तहिना, मैथिलीक आधुनिक कवि–कथाकाहुं के अहां आत्मसात नहि क 'पायब, अभिव्यक्तिक, वाक्य विन्यासक, उच्चारणक, क्रमक ध्वनि आ स्वर–संघातक हमर अपन विशेषता सभ थिक। ओकरा ने संस्कृत पचा सकल ने फ़ारसी। अंग्रेजियो एहि सामर्थ्य सं बाहर रहलै।"[22] बाबा नागार्जुन को इस बात का एहसास था कि सभी हिन्दी भाषी मैथिली नहीं समझ सकते। समझ भी लें तो साहित्य के भाव को उसी रूप में ग्रहण करने में उन्हें बाधा अवश्य आयेगी। इसीलिए उन्होंने नवीन मैथिली में रचना भी की और मध्यकालीन मैथिल कवि विद्यापति की पदावली का अनुवाद भी किया। मैथिली से हिन्दी अनुवाद

करना कठिन है, यह जानते हुए उन्होंने विद्यापति के गीतों का हिन्दी में अनुवाद किया।

नवीन मैथिली को समझना अपेक्षाकृत आसान है। किन्तु प्राचीन और मध्यकालीन मैथिली का अर्थ स्पष्ट कर पाना कठिन हो जाता है। भाषा और भाव दोनों ही स्तरों पर मध्यकालीन मैथिली और नवीन मैथिली में कई स्तरों पर अंतर देखने को मिलता है। किसी भी भाषा के निरंतर गतिशील बने रहने के लिए उसमें बदलाव आवश्यक हो जाते हैं। मैथिली में भी यह बदलाव हुआ। मैथिली पहले की अपेक्षा सरल से सरलतर होती गई है। मैथिलीभाषियों ने सुविधानुसार भाषा में परिवर्तन किया। विभक्तियों का लोप किया। बाद में यह सामान्य नियम हो गया और कारक चिह्नों का प्रयोग किया जाने लगा।

दोनों ही भाषाओं का भौगोलिक क्षेत्र एक–दूसरे में समाहित है। मैथिली को लंबे समय तक हिन्दी की बोली के रूप में स्वीकार किया जाता रहा, किन्तु वर्तमान का सच यह है कि आज वह एक स्वतंत्र भाषा है। संविधान की आठवीं अनुसूची में सन् 2003 में उसे स्थान प्राप्त हो चुका है।

ख. पदावली के विविध अनुवाद

"महाकवि विद्यापति का यश समूचे संसार में फैला हुआ है। वह उन कतिपय गीतकारों में से एक हैं, जिन्हें विश्व की रसिक–मंडली ने सम्मान प्रदान किया है। ... विगत सौ वर्षों में उनकी पदावलियों के भिन्न–भिन्न प्रकार के पचासों संस्करण कलकत्ता, ढाका, पटना, इलाहाबाद और दिल्ली जैसे महानगरों से प्रकाशित हो रहे हैं।"[23]

मैथिल कोकिल के पदों के विभिन्न प्रकार के पचासों संस्करण कई महानगरों से निकलने के साथ–साथ इनके अनुवाद भी विभिन्न भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में किये जा चुके हैं। विद्यापति पदावली की महत्ता, इसकी लोकप्रियता तथा पाठकों के आग्रह से पदावली के अनुवाद हिन्दी, बांग्ला, उड़िया, असमिया, उर्दू, अंग्रेज़ी, रूसी के अलावे भी विश्व की कई भाषाओं में हो चुके हैं। पदावली के सहृदयों ने इसका अनुवाद किया और एक विशाल पाठक वर्ग तैयार किया। अनुवाद के फलस्वरूप कई भाषाओं के पाठकों तक पदावली की पहुँच संभव हो पाई। पदावली के प्रमुख अनुवादों का ज़िक्र करना यहाँ आवश्यक हो जाता है।

नागार्जुन ने संस्कृत, बांग्ला और मैथिली तीनों भाषाओं की रचनाओं का अनुवाद किया है। उन्होंने पदावली का हिन्दी अनुवाद किया है। पदावली के 128 गीतों के इस हिन्दी अनुवाद ने एक बार फिर से पाठकों को गीत–गोविन्द का–सा रस प्रदान किया। काव्यानुवाद जिस भाव संप्रेषनीयता, लयात्मकता, और भाषिक कौशल की माँग करता है, वह नागार्जुन द्वारा अनूदित गद्यानुवाद में मौज़ूद है।

अनुवाद में स्रोत और लक्ष्य दोनों भाषाओं का समान महत्त्व होता है। स्रोत भाषा का भाव, उसकी गति, उसकी संस्कृति को अनुवाद में बचा पाना है, किन्तु के अनुवाद में मैथिली की संस्कृति भी सुरक्षित है और हिन्दी मूल कविता का भाव–संप्रेषण भी हो पाया है। एक उदाहरण देखिए–

मूल– "जय–जय भैरवी असुर–भयाउनि, पसुपति–भामिनि माया।
सहज सुमति बर दिअहे गोसाउनि, अनुगति गति तुअ पाया।।"

अनुवाद– "राक्षसों को आतंकित करनेवाली भैरवी, शिवानी, तुम्हारी जय हो। तुम्हारे चरण–युगल ही इस दास के लिए एकमात्र सहारा हैं– देवि, मैं तुमसे 'सहज–सुबुद्धि' की ही वरदान के रूप में याचना कर रहा हूँ।"[24]

पहली पंक्ति के गद्यानुवाद में जो लयात्मकता है, वह तो कभी–कभी अचंभित कर देता है। किसी भी पद्य का इस प्रकार का गद्यानुवाद करना आसान नहीं है। हालाँकि नागार्जुन द्वारा किये गये अनुवाद पर अध्याय के अगले भाग में विस्तार से चर्चा की जायेगी कि बाबा ने यह अनुवाद क्यों किया? अनुवाद में उन्हें कितनी सफलता मिली और वे मूल पद के भावों को दूसरी भाषा में बाँधकर पाठकों तक कितना संप्रेषित कर पाए?

विद्यापति पदावली का एक अन्य हिन्दी अनुवाद रामवृक्ष बेनीपुरी ने किया है। पदावली के 228 पदों पर शब्दार्थ सहित टिप्पणी की गई है। साथ में 33 पृष्ठों की एक लम्बी भूमिका भी है। बेनीपुरी जी ने भी इन पदों का पाठ शृंगारिक दृष्टि से ही किया है। वे लिखते हैं– "विद्यापति की उपमाएँ अनूठी और अछूती हैं, उनकी उत्प्रेक्षाएँ कल्पना के उत्कृष्ट विकास के उदाहरण हैं, ...विद्यापति का मिलन और विरह का वर्णन भी देखने योग्य है। हिन्दी कवियों ने विरह के नाम पर, हाय–हाय का ही बवंडर उठाया है – उसके विरह वर्णन में, जन आनंद आदि दो–चार को छोड़कर हृदय–वेदना का सूक्ष्म विश्लेषण प्रायः नहीं देखा जाता। विद्यापति के विरह–वर्णन प्रेमिका के हृदय की तस्वीर हैं– उसमें वेदना है, व्याकुलता है। प्रियतम के प्रति तल्लीनता है। कोरी हाय–हाय वहाँ है नहीं।"[25] पीर के कवि घनानंद से बेनीपुरी जी ने मैथिल कोकिल की तुलना की है। अतः स्पष्ट है कि अनुवादक विद्यापति के पदों में प्रेम के दोनों पक्षों को स्वीकारते हैं। बेनीपुरी जी ने जिन पदों को अनुवाद हेतु चुना है, उनमें अधिकांश शृंगारिक पद ही हैं।

अनुवाद के विभिन्न प्रकारों को ध्यान में रखते हुए यदि बेनीपुरी जी के अनुवादों का निर्धारण किया जाए तो इस अनुवाद को शब्दानुवाद के आस–पास का अनुवाद कहा जा सकता है। बेनीपुरी जी द्वारा किये गए एक अनुवाद का उदाहरण देखिए –

सखी–शिक्षा

राधा को शिक्षा

(62)

प्रथमहि अलफ तिलक लेब साजि। चंचल लोचन काजरें आँजि।।2।।
जाएब बसन आँग सब गोए। दूरहि रहब तें अरथित होए।।4।।
मोड़ि बदन सखि रहब लजाए। कुटिल नयन देब मदन जगाए।।6।।
झाँपब कुच दरसाओब आध। खन–खन सुदिढ़ तें करब निबि–बाँध।।8।।
मान करब दरसाओब भाव। रस राखब तें पुनु–पुनु आब।।10।।
हमे कि सिखउबि आओर रंग। अपनहि गुरू भए कहत अनंग।।12।।
सुकवि विद्यापति ई रस गाब। नागरि कामिनि भाव बुझाब।।14।।

शब्दार्थ – 1. अलक = केश। तिलक = टीका, बेदी। लेब = लेना।
2. आँजि = लगा देना। 3. बसन = कपड़ा। आँग = अंग।
गोए = छिपाकर। 4. तें = इससे। अरथित = अर्थित, चाहक।
5. मुख मोड़कर लाज करना। 6. कुटिल = टेढ़े। झाँपब = ढ़कना।
निबि बाँध = नींवी का बंधन। 9. मान कटने के बाद ही भाव प्रकट करना। 12. अनंग = कामदेव। 14. नागरि कामिनि = सुचतुरा स्त्री।[26]

इस पद में बेनीपुरी जी ने शब्द का अर्थ मात्र दिया है। यहाँ टिप्पणी और व्याख्या कुछ भी प्रस्तुत नहीं किया गया है। बेनीपुरी जी भी मिथिला क्षेत्र के ही थे। अतः उन्हें भी मैथिली शब्दों की संस्कृति की जानकारी थी। शब्दार्थ देते हुए उन्होंने सटीक शब्दों का प्रयोग किया है। किंतु कई शब्दों के अर्थ दिये ही नहीं हैं। बेनीपुरी जी ने कई पदों की व्याख्या भी की है और टिप्पणी भी। पद संख्या 58 देखिए–

कर धए करू मोदि पारे। देव मएँ अपरूप हारे, कन्हैया।।2
सखि सबे तेजि चलि गेलि। न जानु कओन पथ भेली, कन्हैया।।4
हमे न जाएव तुअ पासे। जाएव औघट घाटे, कन्हैआ।।6
विद्यापति एहो भाने। गूजरि भजनु भगवाने, कन्हैया।।8

शब्दार्थ – 1. कर=हाथ। घटि=घटकर। करू=करो। पारे=उस पार।
2. देव=दूँगी। हारे=माला। 3. तेजि=छोड़कर। चलि गली =चली गई।
4. न जानु = न मालूम। कओन पथ भेली=किस रास्ते गई? जाएब=जाऊँगी। तुम=तेरे। पासे=निकट। 5. औघट घाटे=जिस घाट के कोई आता=जाता न हो 6. एही=यह। भाने=कहते। 7. गूजरि=बाला,गोपी।

इस पद में प्रेमिका के हृदय का खासा चित्र विद्यमान है। जहाँ एक ओर कहती है 'हम न जाएब तुअ पासे', तो दूसरी ओर मुँह से निकलता है 'जाएब औघट घाटे' यानि जा रही हूं निश्चित स्थान में ही, अर्थात् चलो, इस एकांत स्थान में केलि-क्रीड़ा करें। यों ही इसके अन्य पदों में भी अपूर्व बारीक भाव विद्यमान है। रसिक पाठक गौर करें।[27]

अनुवादक ने पाठकों को पदों में छिपे अर्थों का संकेत किया है। बेनीपुरी जी कई पदों की संक्षिप्त व्याख्या करते चले हैं, जिससे लगता है कि पदावली की उन्हें अच्छी समझ थी, और यदि भावानुवाद करते तो अनुवाद पाठकों को पसंद आता। अनुवादक ने 228 पदों का शब्दार्थ प्रस्तुत करते हुए उसे अलग.अलग उपशीर्षकों में विभाजित किया है।

पहले पद को 'वंदना', दूसरे पद को 'राधा की वंदना, तीसरे पद को 'देवी-वंदना', पद संख्या 4-9 तक को 'वयः संधि', पद संख्या 10-22 तक को 'नखशिख', पद संख्या 23-26 तक को 'सद्यःस्नाता' पद संख्या 27-44 तक को 'प्रेम-प्रसंग' शीर्षक के अंतर्गत रखा गया है, जिसमें पद संख्या 27 से पद संख्या 35 तक को 'श्रीकृष्ण का प्रेम' कहा गया है और पद संख्या 36-44 तक को 'राधा का प्रेम'। पद संख्या 45-

57 तक को 'दूती' शीर्षक के अंदर रखा गया है जिसमें 45-51 तक को 'कृष्ण की दूती' तथा 52-57 तक को 'राधा की दूती' शीर्षक के भीतर रखा गया है। पद संख्या 58-61 'नोक-झोंक' 62-67 'राधा को शिक्षा', 68-71 'कृष्ण को शिक्षा', 72-88 'मिलन', 89-98 'सखी-संभाषण', 99-106 'कौतुक' 107-125 'अभिसार', 126-131 'छलना', 132-154 'मान', 155-159 'कृष्ण मान', 160-163 'मान भंग', 164-173 'विदग्ध विलास', 174-186 'वसंत', 187-219 'विरह' और 220-228 'भावोल्लास' शीर्षक के अंतर्गत रखे गए हैं।

228 पदों को उन्होंने 27 खंडों में विभक्त किया है। बेनीपुरी जी द्वारा किए गये इस शब्दार्थ से पदों का सीधे भाव ग्रहण करना मुश्किल है। भूमिका में कई उपयोगी तथ्य हैं जिसे 'विद्यापति का इतिहास' शीर्षक दिया गया है। इससे विद्यापति के बारे में एक दृष्टि अवश्य बनती है। किंतु मूल भाव का रसास्वादन इस शब्दानुवाद से पाना मुश्किल है।

विद्यापति पदावली का एक अंग्रेजी अनुवाद नारायण झा ने "The sweetest Love songs of Vidyapati" के नाम से 1994 में किया था। उन्होंने मैथिल कोकिल के 31 पदों का मैथिली से अंग्रेज़ी अनुवाद किया। विद्यापति पदावली की प्रसिद्धि विश्व भर में हो, इस बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अंग्रेज़ी में अनुवाद किया है। "Vidyapati internationally popular. Vidyapati is very popular in India, no doubt, but his fame has as yet failed to become non-insular unlike that of Kalidās or Tulsidas or Rabindra Nath. It is not the fault of Vidyapati that his poetry failed to attain International fame. The onus lies on the scholar speaking Maithili, Hindi or Bengali, who had scarcely cared to introduce Vidyāpati's songs in one of the world languages."[28] विद्यापति के पदों को अंतर्राष्ट्रीय भाषा में अनुवाद करना, अनुवादक की पदावली के प्रति आस्था तो दर्शाता ही है, साथ ही अपनी भाषा मैथिली को विविध पाठकों तक पहुँचाने की जिम्मेदारी को भी स्वीकार करते हैं।

नारायण झा ने अनुवाद के लिए जिन पदों का चुनाव किया है वे शुद्ध शृंगारिक पद ही हैं। उन्होंने लिखा है– "I have endeavoured to select these songs

from all the different phases of love, viz. from the first phase of failing in love to the last phase of separation (albiet temporary) including so many phases falling in between these points (see the caption of songs which I have put them in order to individualize each songs.".[29] भूमिका पढ़ने से यही लगता है कि नारायण झा भी विद्यापति पदावली को श्रृंगार से ही जोड़कर देखते हैं। उदाहरणस्वरूप एक पद देखिए–

मूल

कामिनि करए सनाने।
हेरितहि हृदय हनए पँचबाने।।
चिकुर गरए जलधारा।
जनि मुख–ससि डर रोअए अँधारा।।
कुच-युग चारु चकेबा।
निअ कुल मिलिअ आनि कोन देबा।।

इस पद का शीर्षक– "The Bathing Beauty" दिया गया है।

अनुवाद

Beautiful maidan bathes in the pond,
whoever looks is at once charm'd
As if hit by the *cupid* arm'd.
Drop of water drip from the hair
Darkness weeps; he is seized with fear,
Seeing such a face shine moon like clear,
A couple of breasts, like *chakaba* in pair,
Are nestle together by a chance se rare;

इस अनुवाद में नारायण झा ने cupid और chakaba का अर्थ भी पाद टिप्पणी में दिया है।

यह अनुवाद भाषा और भाव दोनों स्तरों पर पाठकों को प्रभावित करता है। अनुवाद के मूल उद्देश्य की बात करें तो निःसंदेह यह अनुवाद पाठकों तक मूल पद के भाव संप्रेषण में सफल रहा है। अनुवाद के साथ-साथ अनुवादक ने मूल पद को भी प्रस्तुत किया है जिससे पाठकों को मूल पद के भाव को समझने में काफी सहूलियत हुई। कुमारस्वामी के अनुवादों की तरह मूल के लिए भटकने वाली स्थिति यहाँ पाठकों की नहीं है।

काव्यानुवाद की मूल समस्या की ओर यदि गौर करें कि लयात्मकता, संगीतात्मकता, ध्वन्यात्मकता का क्या हुआ, तो यहाँ अनुवादक ने इन तत्वों का खूब ख्याल रखते हुए पद्य में अनुवाद किया है।

मूल पाठ में कई ऐसे शब्द हैं जिनका हू-ब-हू अंग्रेज़ी अनुवाद संभव नहीं, और वैसे शब्द जो पौराणिक प्रतीकों से जुड़े हैं, अनुवाद के अंत में उन शब्दों की टिप्पणी भी दी गई है।

बहरहाल, यही कहा जा सकता है कि नारायण झा का अनुवाद एक अच्छा प्रयास है, जिसमें वे पाठकों तक पदों के भावों को संप्रेषित करने में सफल भी हुए हैं।

1914 में कुमारस्वामी ने बंगाल में प्राप्त विद्यापति के पदों का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया था। प्रस्तुत अनुवाद में कुमारस्वामी ने वैष्णव परंपरा में रखकर विद्यापति के पदों को देखा है। बाद के शोधों ने उनके द्वारा संकलित कई पदों को अप्रमाणिक सिद्ध किया है। प्रस्तुत अनुवाद के साथ जो भूमिका और व्याख्यात्मक संकेत दिए गए हैं उससे स्पष्ट है कि अनुवादक ने इन पदों को आध्यात्मिक और भक्ति संकेतों के साथ पढ़ा है। भागवत्, प्रेमसागर, गीतगोविंद के साथ-साथ मध्यकालीन यूरोपीय कविताओं के भावसाम्य को दिखलाया गया है। साथ–ही–साथ अन्य कलाओं खासकर चित्रकला के 'भारतीय परंपरा' को भी रेखांकित किया गया है। अनुवादक का ऐसा मानना है कि "One and the same lyrical tradition is the common inheritance of all Hindustan; it finds expression now in poetry, now in music, and now in painting. Hence it is that the schools of painting, though they

are local, illustrate all the ideas of the Vaishnava poets as directly as the songs themselves."[30]

दरअसल यह विचार इस मान्यता की ओर इशारा करता है कि भारतीय परंपरा नाम की एक चीज़ अस्तित्व रखती है और यह परंपरा निश्चित रूप से वैष्णव परंपरा है। पेंटिग के भिन्न स्कूलों की स्थानीयता के भीतर भी जो मूल विचार है वह वैष्णव गीतों से लिए गए हैं। ये गीत जिस तरह से वैष्णव–भक्ति परंपरा और दार्शनिक मान्यताओं को व्यक्त करते हैं, चित्रकला भी वही करती है। कुमारस्वामी जिस समय यह अुनवाद कर रहे थे, भारत एक राष्ट्र के रूप में अपनी पहचान निर्मित कर रहा था। ऐसी स्थिति में जो सामन्यीकरण संस्कृतियों एवं विचारों के बीच से किया जाता है उसका प्रभाव मनीषा के निर्माण में कैसे पड़ता है, प्रस्तुत अनुवाद में उसे देखा जा सकता है। इसके अलावा 'भारतीयता' की यह खोज भी खास पश्चिमी प्रतिमानों के आधार पर की जा रही थी। भक्ति और अध्यात्म की भारतीय परंपरा की खोज के पीछे 'ऑरियेन्टलिज्म' यहाँ की मनीषा के बड़े वर्ग को प्रभावित भी कर रहा था और निर्देशित भी।

बहरहाल, कुमारस्वामी ने पदों का अनुवाद पुरानी अंग्रेज़ी में किया है। अधिकांश जगहों पर अनुवाद काफी सुन्दर बन पड़ा, लेकिन इसकी अपनी सीमाएँ भी स्पष्ट हैं। विद्यापति का एक पद है–

रामा, अधिक चंगिम भेलि।
कतन जतन कत अद्भुत, विहि निधि तोहि देलि।।
सुंदर बदन सिंदुर–बिन्दु–सामर चिकुर भार।
जनि रवि ससि संगहि ऊगल पाधु कए अंधहार।।
चंचल लोचन बाँक निहारए अंजन शोभा पाए।
जानि इंदीवर पवन–पेलल अलि भरें उलटाए।।
उन्नत उरोज चीरे झपावए पुनु दरसाए।
जइसो जतने गोअए चाहए हिमगिरि न नुकाए।।

एहानि सुंदरि गुनक आगरि पनें पुनमत पाव।
ई रस विन्दक रूपनारायण कवि विद्यापति गाव।।

Fair-face, red-brow -spot, there-behind the heavy jet-black hair—
As if the sun and moon together rising left the night behind.

Ah damsel fair!with what and what devoted care,
Has Nature given to you the utmost beauty of the moon.

A grass green bodice binds your breasts, a glimpse is only seen;
So jealously you cover them, —but never snow may hide the hills!

Dark surm decks your curving restless eyes,
As if the bees would rest their weight upon some wind-bent lotus.

Hearken, young thing, says Vidayapati; these charms, you know them all,—
Witness be Raja Shrivasimha Rupanarayana and Lakshmi Devi.[31]

'चीरे झपावए' के लिए "A grass green badice' का प्रयोग क्यों हुआ है यह समझ में नहीं आता है। यह संभव है कि जिस बांग्ला पद से यह अनुवाद किया गया वहाँ ऐसा कुछ हो। लेकिन फिर 'जइसो जतने गो। चाहए हिमगिरि न नुकाए' का अनुवाद 'So jealously you cover them' — but never snow may hide the hills!' क्यों? हिम सफेद होता है अतः अगर 'चीर' से उसका साम्य बिठाना है तो हरे रंग की चीर का क्या मतलब! वैसे यहाँ हिमगिरि को 'हिम गिरि 'न नुकाए' पढ़ना भी पढ़ना भी ठीक नहीं है। दूसरी ओर 'जनि इन्दीवर पवन–पेलल अलि भरें उलटाए' का अनुवाद 'As if the bus would rest their might upon some wind bent lotus' काफी अच्छा अनुवाद बन पड़ा है। इसी तरह और पदों के भी अनुवाद काफी काव्यात्मक और अर्थपूर्ण किए गए हैं। दिक्कत उन पदों के पढ़ने (Reading) को लेकर है। मसलन पद है–

मूलः जहाँ–जहाँ पद जुग धरई। तहिं–तहिं सरोरूह झरई।
जहाँ–जहाँ झलकाए अंग। तहिं–तहिं बिजुरि–तरंग।।[32]

अनुवाद हैः–

Whatsoever her twin feet fall

A lotus flower uplifts them:

Wheresoever her body passes swaying,

There is the light ning's undulation! (पद, XIV, p. 16)

अनुवाद काफी काव्यात्मक है और मूलपाठ के सौंदर्य को बड़ी निकटता से पकड़ता है। लेकिन व्याख्यात्मक संकेत में टिप्पणी है– "Radha's feet do not touch the ground but are upborne by lotus flowers that spring up beneath them. Thus Radha is very tenderly represented as divine. Every footfall finds a lotus - footstool, which is a constant convention of Buddhist and Hindu art. The hightness of her step is also suggested."[33]

नितांत काव्यात्मक एवं मानवीय सौंदर्य में देवत्व का प्रक्षेपण! एक सायास आध्यात्मिक पढन के कारण यह अनुवाद पदों को उलझाऊ बना देता है।

कुमारस्वामी ने 138 पदों का अनुवाद किया है तथा उनको उपशीर्षकों में वर्गीकृत भी किया है। इन उपशीर्षकों में एक क्रम हैः

1) कृष्ण पूर्वग्रह (The first passion of Krishna)
2) राधा वयः संधि (The Growing up of Radha)
3) राधा पूर्वग्रह (The first passion of Radha)
4) सखि–शिक्षा–वचनादि (The counsel of Girl-Friend)
5) प्रथम मिलन (First meetings)
6) अभिसार [(Radha's) Going fourth (to visit Krishna)]
7) वसंत लीला (Dalliance in Spring)
8) मान (Wiltulness)
9) मानांत मिलन (Reunion after wiltutness)

10) आक्षेप, अनुयोग औ विरह (Reproaches, Lack and Longing)

11) पुनिर्मिलन औ रसोद्‌गार (Reunion and flow of Nectar)

नागार्जुन की तरह ही इन पदों के स्रोत की कोई विशेष चर्चा नहीं की गयी है तथा कुमारस्वामी ने अनुवाद के साथ मूल पाठ को भी नहीं दिया है। इससे अनुवाद की महत्ता क्षीण ही होती है।

पदावली के विभिन्न भाषाओं में अनुवाद तो हुए ही हैं, कई सहृदयों ने मैथिली पदों के भावार्थ का प्रकाशन भी करवाया है। विभूति आनंद ने पदावली के 101 पदों का मैथिली में भावार्थ का संकलन किया है। इस संकलन के उद्‌देश्य को उद्‌घाटित करते हुए वे लिखते हैं– "एहि संकलन के प्रकाशित करबाक पाछू एकमात्र उद्‌देश्य रहल अछि जे इ गायक–गायिका लोकनि केँ सहयोग कऽ सकय। कारण जे अधिकांश व्यक्ति एखन जाहि रूपे विद्यापति गबैत छथि, ओ सभ पदक भाव केँ समुचित ढंगे अपन स्वरमे नहि उतारि पबैत छथि। आ जकर एकमात्र कारण हमरा जनैत पदक अर्थ केँ नहि बुझब अछि।"[34] विद्यापति के पद अभी भी मिथिला में खूब गाये जाते हैं, इसका स्पष्ट संकेत विभूति आनंद की बातों से लगता है। किसी भी गायक के लिए गाने के मूल अर्थ को समझना आवश्यक हो जाता है। मूल अर्थ ग्रहण किये बिना किसी भी पद को स्वरबद्ध करना मुश्किल हो जाता है। विद्यापति के पदों के भाव को सहृदय तक पहुँचाने का यह प्रयास सराहनीय है। विभूति आनंद द्वारा किये गये पद के भावार्थ का उदाहरण देखिए–

"दुल्लहि तोर कतए छथि माय।
कहुंन ओ आबथु एखन नहाय।।
वृथा बुझथु संसार-विलास।
पल-पल नाना भाँतिक त्रास।।
माए-बिाप जओं सद्‌गति पाब।
संतति कौ अनुपम सुख आब।।
विद्‌यापति के आयु अवसान।
कार्तिक धवल त्रयोदसि जान।।"

भावार्थ – विद्यापति अपन अंत समय जानि एहि नश्वर शरीरक त्याग करबाक हेतु गंगाक पवित्र तटपर अयलाह। गंगा मैया अपन पुत्रकेँ अंक समेटबाक लेल प्रस्तुत भऽ गेलीह। एहि अवसर पर विद्यापति अपन पुत्री केँ सम्बोधित करैत कहेत छथि जे हय दुलारि! तोहर माय कतऽ छथुन? कहुन ने, ओ आव नहा आबथि। अरे, अबेर कयने की होयतनि। एहि संसारक भोग विलास आदि केँ व्यर्थ बुझथु। एहि ठाम तऽ क्षणे-क्षणे नाना प्रकारक भय, कष्ट आदि अबैत रहैत छैक। माय -बाप जँ सद्गति पाबि जाइत अछि तँ ओकरा कुल-परिवारकेँ अनुपम सुख होयबाक चाहिऐक। ई नहि जनैत छथि जे आइ कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी छैक। ई हमर आयुर्दा क्षीण भऽ गेल।[35]

मिथिला में यह पद बहुत प्रसिद्ध है। लोक में यह मान्यता है कि महाकवि ने अपनी पुत्री को संबोधित करते हुए इस पद की रचना की थी। वृद्धावस्था में भोग-विलास और श्रृंगारिक रचनाओं से उनका मन उचट चुका था, और भक्ति की ओर उनका रूझान हो गया था।

बहरहाल, उनका यह प्रयास है कि विद्यापति की पदावली को गायक-गायिकाओं के साथ-साथ श्रोतागण तक भी अपने वास्तविक अर्थ और लय के साथ तादात्म्य स्थापित कर पाएगा।

पदावली के ये भावार्थ, अनुवाद, टिप्पणी और व्याख्या विद्यापति की लोकप्रियता को तो सामने लाता ही है, साथ–ही–साथ वैश्विक स्तर पर उनकी प्रसिद्धि का कारण भी बनता है। विद्यापति के इन अनुवादों को पढ़ने के बाद एक बात तो स्पष्ट है कि दुनियाभर में अनुवाद के माध्यम से विश्वसाहित्य को एक नया आयाम मिला है। विद्यापति की कोमलकांत पदावली के ये विविध अनुवाद मिथिला संस्कृति को, मैथिली भाषा की मिठास को और श्रृंगारिक पद को मिथिला की भौगोलिक सीमा से बाहर तो ले ही जाते हैं, साथ ही विविध संस्कृतियों के ऊपर भी ये अपनी गहरी छाप छोड़ते हैं।

(ग) नागार्जुन के द्वारा हिन्दी में अनूदित 'विद्यापति पदावली' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

मैथिल कोकिल के पदों का अनुवाद नागार्जुन ने क्यों किया? यह सवाल एक स्तर पर बचकाना लग सकता है। और इसका सबसे प्राथमिक और त्वरित जवाब कोई भी दे सकता है कि मिथिला के जन-जन में बसे विद्यापति के गीत मैथिली भाषा एवं मिथिला क्षेत्र की सांस्कृतिक धरोहर है। एक समृद्ध परंपरा के आदि गायक ने जिस तरीक़े से भाषा, साहित्य और जनरूचि तथा वहाँ की संस्कृति को शब्दों में पिरोया है, मिथिला का कोई भी सहृदय उसे पूरी दुनिया के समक्ष उद्घाटित करने की चाह रखेगा। सो नागार्जुन ने पदावली का अनुवाद किया। परन्तु प्रश्न एवं उत्तर दोनों इतने साधारण नहीं हैं। नागार्जुन जैसे कवि ने इस अनुवाद के जरिये न केवल उस आदि कवि के ऋण का प्रतिदान करना चाहा, बल्कि बहुत हद तक झूठी प्रगतिशीलता को दुरूस्त करना भी उनका उद्देश्य था। प्रथम अखिल भारतीय मैथिली साहित्य सम्मेलन, दरभंगा, के कविता विभाग के अध्यक्ष पद से नागार्जुन ने 1956 में एक भाषण दिया था। उस भाषण में उन्होंने कहा था "...अई देशक चिक्किनि माँटि, सनगर पानि आ दोरस बसात के प्रीतिमय भावनाक ओ अपूर्व विधाता परि लगलथीन जनिका संसार विद्यापतिक नामे जनैत अछि। विदग्ध संवेदन-शीतलाक कारणेँ जनिक कोमल–कांत पदावली आकल्प रत-रत करैत रहतइन। सृष्टिक सर्वोत्तम अवदान थिक मनुष्य, जीवनक सर्वाधिक महत्वपूर्ण काल थिक यौवन, रचनात्मक दृष्टिएँ सर्वोपरि स्थाइ भाव थिक नर-नारीक परस्पर प्रीति। ओहि प्रीतिक अवहेला कएनिहार कवि किंवा दार्शनिक अगबे पाथर थिकाह! सितुआक आँखि आ मोमक नाक नहि–काज अओतइन ककरों; काव्यात्मक विद्यातिक कें चिन्हबलिए चाही भावप्रवण मानवीयता, सहानुभूतिक परम आकुलता, नर-नारीक पारस्पिरिक सद्भावना दिस अखंड आस्था। तथाकथित नक्कू उपाध्याय वा अति उग्रवामपंथी यदि केओ कतउ बाजि उठथि जे विद्यापति रहथि घोर शृंगारी कवि-विकट कि वासनामय गीतकार तँ ताहि प्रणम्य देवता कें

वायुविकार-ग्रस्त बूझि लेबाक थिक। परस्पर-अनुरक्त नर-नारी केर मनोदशाक ई चित्रकार संसारभरि में अद्वितीय छथि।"[36]

भाषा के प्रस्तुत अंश में बाबा ने स्पष्ट रूप से 'उग्र वामपंथी' शृंगारिकता-बोध की मिथ्या चेतना पर एक प्रहार किया है। नागार्जुन ने यह भी साफ तौर पर कहा है कि सृष्टि का सर्वोत्तम अवदान मनुष्य है। मनुष्य की प्रतिष्ठा का यह उद्घोष भारतीय उपमहाद्वीप में उसी वक्त हुआ था जब विद्यापति एक-दूसरे तरीके से मानव के भौतिक अस्तित्व की प्रतिष्ठा कर रहे थे। चंडीदास ने साफ-साफ कहा था' 'सबाई ऊपरे मानुष'। मानुष सत्य की ही बात करने वाले विद्यापति, चंडीदास और जयदेव (समकालीन रचनाकारों) में से दो का अनुवाद नागार्जुन ने किया है। उन्होंने विद्यापति की पदावली का तो अनुवाद किया ही जयदेव के गीत गोविन्द का भी अनुवाद किया है। नागार्जुन इन दोनों कवियों के गीतों को 'सामंती रसोपलब्धि' का हेतु मानते थे। इनकी सामंती सीमाओं को जानते हुए भी नागार्जुन का मोह इन कोमलकांत पदावलियों के प्रति इतना था कि इन्होंने इनका अनुवाद कर डाला।

नागार्जुन की अंतश्चेतना जिस वर्तमान में अपने आप को 'लोकेट' कर पा रही थी वहाँ प्रगतिशीलता एकरेखीय स्वीकार और नकार वाली मुद्रा में थी। सामंती समाज के भीतर से रचे गए साहित्य के वासनामय चित्रों को पतनशील संस्कृति के अंश के रूप में स्वीकार करने के साथ-साथ तथाकथित प्रगतिशील खेमा उन्हें लगातार बेकार कह कर उनका निषेध भी करता जा रहा था। यही कारण है कि रीतिकाव्य को लेकर भी एक नकारात्मक आलोचना दृष्टि हिन्दी में विकसित होती गई। विद्यापति के पद भी ऐसी ही स्थिति में थे, इसका संकेत बाबा के भाषण में मिलता है। मिथिलांचल के लोककंठ में प्रतिष्ठित इस आदि-भाषा कवि के गीतों के प्रति शिष्ट-साहित्यिक (!) प्रगतिशील (!) दल-बल (!) शृंगारिकता के त्याज्य रूप की निर्मिति करता गया। शृंगारिकता और यौनिकता (Sexuality) के 'स्पेस' को पतनशील रूचि एवं संस्कार घोषित करके उन्हें सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्श से बाहर करने की शुचितावादी प्रगतिशीलता के बरक्स नागार्जुन का यह अनुवाद एक सांस्कृतिक आलोचना भी है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि "मिथिला के लोककंठ में विद्यापति के शृंगारिक पदों से अधिक पर्व-त्योहार के पद हैं"[37] लेकिन बाबा ने अनुवाद के लिए शृंगारिक पदों का चयन ही किया। (उन्होंने विद्यापति के ये पद कहाँ से लिये हैं, इस संबंध में वे कुछ नहीं कहते)। शृंगारिक पदों से ही विद्यापति को वैश्विक प्रसिद्धि मिली है। नागार्जुन द्वारा दिये गए कवि परिचय से तो यही स्पष्ट होता है।[38] विद्यापति ने तो पदावली में कई तरह के पद लिखे, फिर प्रसिद्धि शृंगारिक पदों को ही क्यों मिली? इसके पीछे कौन सी वजह है? कौन सा तर्क है इसके पीछे? आज भी बंगाल में विद्यापति के पद भक्ति–भावना से गाये जाते हैं। बंगाल में एक मिथक यह भी है कि चैतन्य इन पदों को गाते-गाते भावविभोर हो जाते थे, उन्हें कुछ सुध नहीं रहती थी। चैतन्य जैसे संतों के लिए ऐसे बेसुध होना संभव भी था। लेकिन इस कारण विद्यापति के पदों की संरचना एवं उसके भावों की आध्यात्मिकता का एक मिथ भी लोगों के बीच घर कर गया। चैतन्य के कारण पूर्वांचल में पदों की लोकप्रियता ख़ूब बढ़ गई।

डॉ. रामकुमार ने वर्मा अपने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में प्रो. जर्नादन मिश्र को उद्धृत करते हुए इस बात को पुष्ट किया है। "विद्यापति के प्रचार का सबसे बड़ा कारण चैतन्य महाप्रभु हुए। बंगाल में वैष्णव संप्रदाय के ये सबसे बड़े नेता हुए। इन पर लोगों की इतनी श्रद्धा थी कि ये विष्णु के अवतार समझे जाते थे। विद्यापति के पदों की ऐसी प्रतिष्ठा होने के कारण लोगों में विद्यापति के प्रति आदर का भाव बहुत बढ़ गया। इसलिए बंगाल में विद्यापति का आश्चर्यजनक प्रचार हुआ।"[39] जयदेव के पदों को जिस प्रकार उड़ीसा में या जगन्नाथपुरी की वैष्णव-परंपरा में समाहित कर लिया गया था (जयदेव घोषित रूप से निम्बार्क सम्प्रदाय के थे)[40] उसी प्रकार विद्यापति भी वैष्णव भक्ति की परंपरा में फिट कर दिए गए। धीरे-धीरे इन पदों को लेकर जन मानस में जो धारणा बनी उसमें भक्ति और अध्यात्म के मिथकों का बड़ा हिस्सा बनता गया। एक तो सामंती समाज के भीतर जनप्रिय विषय दो ही होते हैं, धर्म और शृंगार। उसमें भी अगर शृंगारिकता को धर्म की आड़ मिल जाए तो दोनों

में विभेद करना मुश्किल हो जाता है। यही कारण है कि अपने 'प्रचारित भक्ति-भावना' के बावजूद इन पदों में व्यक्त यौनिकता और रति की मांसल-भौतिक अभिव्यक्ति विवाह आदि सार्वजनिक उत्सवों के मौके पर लोगों के हास-परिहास और आनंद का कारण बनती थी। और जाने-अनजाने सामाजिक रूप से दमित यौनिकता को स्वर मिलता था। लेकिन जनसामान्य के बड़े वर्ग में जहाँ भक्ति और अध्यात्म का मिथक ही प्रभावी था वहीं शासक और कुलीन वर्ग इससे सर्वथा मुक्त थे। और नागार्जुन इस बात को स्पष्ट रूप से समझ रहे थे। "मुझे तो विरह शृंगार वाले कोमल गीत तत्कालीन सामंती वर्ग के मनोविनोद की सामग्री प्रतीत होते हैं। नर्तक और नर्तकियाँ भावाभिनयपूर्वक इन गीतों को गाते थे और सुविधाभोगी वर्गों के प्राण-मन उन्हें सुन-सुनकर परितृप्त होते थे। मुग्धा राधिका सी अभिसारिका बूढ़े राजाओं का दिल गुदगुदाती थी।"[41]

कहने का तात्पर्य यह है कि शासक और कुलीनवर्ग के मनोरंजन के साधनों को भी किस प्रकार जनसामान्य में 'मिस्टीफाइ' किया जाता है, इसे समझने की जरूरत है। और यह मिस्टीफिकेशन केवल उसी समय नहीं किया गया था बल्कि बाद में प्राच्यविदों की जो बौद्धिक योजना थी, उसने भी यही किया। जार्ज ग्रियर्सन ने मिथिला में प्रचलित विद्यापति के पदों का संकलन किया था। उन्होंने इन पदों के बारे में लिखा कि– "The glowing stanzas of Vidyapati are read by the devout Hindu with a little of the baser part of human sensuousness as the songs of the Solomon by the Christian priests."[42] अर्थात् ईसाई पादरी जिस प्रकार सालोमन गीतों को गाते हैं हिन्दु भक्तगण भी उसी प्रकार विद्यापति के उज्ज्वल पदौं का गान करते हैं। आगे वह यह भी कहते हैं कि विद्यापति के ये गीत किस प्रकार आत्मा और जीव के संबंधों को ही व्यक्त करते हैं। ग्रियर्सन महोदय पर ईसाईयत की श्रेष्ठता का कितना असर है इसको हिन्दी साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने वाला हर व्यक्ति जानता है। उनके लिए तो भक्ति-आंदोलन भी पश्चिम और ईसाईयत की देन थी। और भारतीयों

को 'सभ्य बनाने' (White men's burden) में भी वे ईसाईत का बड़ा योगदान मानते है। उन्होंने लिखा है-

"Even when the sun of Hindu-religion is set, when belief and faith in Krishna, and in that medicine of 'disease of existence' the hymns of Krishna's love, is extinct, still the love borne for songs of Vidyapati in which be tells of Krishna & Radha will never diminished."[43] आम तौर पर यह लगता है कि ग्रियर्सन, विद्यापति के पदों में जो सहज मानवीय प्रेम (नर-नारी का प्रेम) है, उसके सनातन होने की बात कर रहे हैं। लेकिन उपर्युक्त दोनों उद्धरणों को साथ-साथ पढ़ते हुए और उनके पूरे लेखन के पीछे की विचारधारा का ख़्याल रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनका मंतव्य स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म के बाद जब (...sun of Hindu religion is set...) भारत का पूर्ण ईसाईकरण हो जाएगा तो भी विद्यापति के गीत रहेंगे और प्रेम और मानवीय अस्तित्व की गरिमा के रूप में राधा व कृष्ण का चरित्र गाया जायेगा क्योंकि ये तो सोलोमन के गीतों (songs of solomon) की ही तरह हैं। हो सकता है हमारा यह निष्कर्ष ज़्यादा खींच-तान हो लेकिन ओरिएन्टिलिज़्म के तर्क के पीछे की राजनीति को समझने वाले इसे स्वीकार करेंगे। इसी कड़ी में भंडारकर जैसे विद्वान् भी हैं जो 'कृष्ण' शब्द के उद्भव का पता लगाते-लगाते 'क्राइस्ट' शब्द तक पहुँच जाते हैं।[44] 1914 में विद्यापति के बंगाली पदों को आधार बनाकर आनंद कुमारस्वामी ने उनका अनुवाद किया था। उन्होंने घोषित रूप से विद्यापति को वैष्णव कवि माना और वैष्णव भक्ति परंपरा के प्रतीकों को पदावली में स्पष्ट आध्यात्मिक संकेतों के साथ पढ़ा भी और अनूदित भी किया। आध्यात्मिकता का यह हौवा पुरानी भक्ति साधना से उतनी निःसृत एवं प्रभावित नहीं है जितनी 'भारतीय अध्यात्म' की पश्चिमी विनिर्मिति है।

"It is quite certain that many poems of Vidyapati have an almost wholly spiritually significance."[45] इसके बाद फुटनोट में लिखते हैं, "I do not here refer to the details of concrete symbolism (for which see Purnendu Narayan Sinha 'The

Bhagvata Purana, a study', Benaras 1901) but to the common language of mysticism."[46] वहाँ ईश्वर और आत्मा (God and Soul) तथा आदमी और औरत (Man and maid) के बीच संबंधों को ढूँढ़ते हुए पश्चिम यूरोप की कविताओं का हवाला भी देते चलते हैं।[47]

अतः मिस्टीफिकेशन की ये जो प्रक्रिया है वह कई स्तरों पर चलती है। कई बार तो एक ही साथ (और यह मूल अर्थ को इतना ढ़ँक देती है कि यथार्थ महत्व पहचाना ही नहीं जा सकता है)। एक तो सामाजिक वर्ग–विभेद दूसरी औपनिवेशिक ज्ञान–मीमांसा या प्राच्यवाद, तीसरी ओर झूठी, दिखाऊ प्रगतिशीलता का नकारात्मक रूख और चौथी ओर प्राचीन साहित्य को लेकर चलने वाली विचारधारात्मक बहसें– इन सब के बीच से साहित्य और संस्कृति के भीतर के द्वंद्वात्मक चिंतन को प्रतिष्ठित करना, अंतर्विरोधों की स्पष्टता के साथ-साथ साहित्यकता की परख और साहित्यिक-सांस्कृतिक परंपरा के दाय को समझना एक कठिन कार्य है। विद्यापति की पदावली का अनुवाद करते वक्त नागार्जुन की अंतश्चेतना शायद इन सब से जूझ रही थी। शब्दों के माध्यम से होने वाले व्यापार के सामाजिक–सांस्कृतिक और विचारधारात्मक रूख को हम पदों के अनुवाद पर बहस के दौरान देखेंगे। फिलहाल इस प्रश्न पर थोड़ी चर्चा कि प्राचीन साहित्य से हमारा रिश्ता कैसा हो और ख़ास तौर पर तब जब हम घोषित मार्क्सवादी हों। यह चर्चा इसलिए ज़रूरी है कि बात विद्यापति और नागार्जुन दोनों की हो रही है।

1857-58 की 'आर्थिक पांडुलिपियाँ' में मार्क्स ने प्राचीन ग्रीक कलाओं के उद्‌भव एवं उनकी श्रेष्ठता के बारे में बात करते हुए लिखा था- "परंतु कठिनाई यह समझने में नहीं है कि यूनानी कला तथा महाकाव्य सामाजिक विकास के कतिपय रूपों से कैसे जुड़े हुए हैं। कठिनाई तो यह है कि वे अब भी हमें सौन्दर्यात्मक आनंद प्रदान करते हैं और उन्हें अब कुछ मामलों में मानक तथा अलभ्य मॉडल माना जाता है।"[48] इसके कारणों की ओर इशारा करते हुए मार्क्स ने लिखा था कि जैसे बालिग़ होने पर भी बच्चे का भोलापन हमें आकर्षित करता है उसी प्रकार इतिहास के बाल्यकाल की ये रचनाएँ हमें अपनी 'नैसर्गिक सत्यपरकता' से आकर्षित करती हैं और

"उनकी कला का हमारे लिए जो आकर्षण है, वह समाज की उस अपरिपक्व मंजिल से नहीं टकराता, जिसमें उसने जन्म लिया। इसके विरीत उसका आकर्षण इसका परिणाम है और इस तथ्य से अविच्छेद्य रूप से जुड़ा हुआ है कि अपरिपक्व सामाजिक अवस्थाओं की, जिनके अंतर्गत इस कला ने जन्म लिया और केवल जिनके अंतर्गत ही वह जन्म ले सकती थी, फिर कभी पुनरावृत्त नहीं हो सकती।"[49] मार्क्स की इस व्याख्या को लेकर काफी कुछ कहा और लिखा गया है। फिलहाल इस विवाद में जाना हमारा उद्देश्य नहीं है और न ही उसकी ज़रूरत ही है। इतना तो निश्चित है कि प्राचीन साहित्य की अंतर्वस्तु और उसका रूप केवल अपने बालसुलभ भोलेपन के कारण ही आकर्षित नहीं करती और न ही कोई शाश्वत सा मूल्य ही इसमें छिपा होता है जो आज भी प्रासंगिक है और शायद हमेशा ही रहेगा। मार्क्स ने एक महत्वपूर्ण पक्ष पर ध्यान अवश्य दिलाया है। यह जो बालसुलभ नैसर्गिकता है और जो दुबारा लौट नहीं सकती वह ऐतिहासिक विकासक्रम में उस ख़ास दूरी के बारे में बात करती है जहाँ से खड़े होकर हम रचना को देखते हैं। तब रचना विशुद्ध रूप में हमारे पास नहीं आती है। वह आती है अपनी व्याख्याओं एवं प्रभावों की लंबी प्रक्रिया से गुजर कर। इन व्याख्याओं एवं प्रभावों में उस रचना के सामाजिक और साहित्यिक प्रभाव एवं तदनुरूप हुए संरचनात्मक हस्तक्षेप और बदलाव भी शामिल होते हैं। मतलब उस रचना के साथ आज बहुत कुछ जुड़ा होता है जो उसके अर्थ को और उसकी महत्ता को निर्धारित करता है।

नागार्जुन एक पाठक ही नहीं थे वरन् एक कवि भी थे। रचनाओं को उन्होंने केवल पढ़ा ही नहीं है बल्कि उसके सक्रिय दाय को लेते हुए उस परंपरा में नया जोड़ा भी है। और यह नया जोड़ना पूरी परंपरा का, उसके विकासक्रम का नया परिप्रेक्ष्य निर्मित करना है। हर नयी रचना अपने पहले की तमाम रचनाओं के लिए नए सन्दर्भ देती है, फलस्वरूप उसके अर्थ को बदलती चलती है। एक मार्क्सवादी होने के नाते जो साहित्यिक ऐतिहासिकता का बोध नागार्जुन को होना चाहिए वह उनमें है। वह जानते हैं कि चाहे वह मेघदूत हो, गीत-गोविन्द हो या विद्यापति की पदावली, वे

अपने वर्ग–सन्दर्भ की सीमाओं के भीतर हैं। वे रचनाएँ तत्कालीन सामंती व्यवस्था के अंतर्विरोधों की शिकार हैं। इसके बावजूद कवियों ने उन अंतर्विरोधों के साथ 'मानवीय हृदय' को पहचाना है इसलिए ये रचनाएँ आकर्षित करती हैं– "कालिदास को मानवीय हृदय की भारी पहचान थी। इसी से उनके साहित्य में हम तत्कालीन मध्यम एवं उत्तम वर्ग के समग्र लोकमानस की ये झाँकियाँ पाते हैं। इसी से मेघदूत हमें आज भी अच्छा लगता है।"[50]

नागार्जुन ने मेघदूत के अनुवाद पर बात करते हुए काव्य-निर्माण के लिए की जाने वाली मधुकरी वृत्ति की भी बात की है। यह बात वैसी ही लगती है जैसी इलियट ने अपने निबंध 'परंपरा और व्यक्तिगत प्रज्ञा' में की है। नागार्जुन लिखते हैं– "मधुछत्र देखकर इतना तो हम अंदाज़ा लगा लेते हैं कि नाना दिग्देशों से समय-समय पर स्वल्प या अधिक मात्रा में शहद की मक्खियाँ मकरंद और परागकण लाती रही हैं- आदान और आहरण का यह क्रम महीनों चला और तब जाकर यह मधुकोष तैयार हो पाया है।...काव्य निर्माण में भी कवि-मन को ठीक इसी प्रकार की मधुकरी वृत्ति अपनानी पड़ती है।"[51] नाना दिग्देशों से समय -समय पर जो 'मकरंद और पराग कण' लाया जाता है वह समय ओर दिक् के आयाम में या देश-काल में अनुस्यूत परंपरा ही है।

इलियट लिखते हैं कि लेखक या कवि के पास एक ऐतिहासिक चेतना होनी ही चाहिए जिसमें अतीत के विगत होने का अवबोध ही न-शामिल हो वरन् इसके वर्तमान का भी बोध हो। किसी कवि, कलाकार के नितांत अकेले होने का कोई भ्रम नहीं होना चाहिए। उसकी महत्ता, उसकी बड़ाई दरअसल उस रिश्ते की बड़ाई है जो मृत कवि-कलाकारों से उसका है। उसे दरअसल पूरे यूरोप के मस्तिष्क का, अपने देश के मस्तिष्क का ज्ञान होना चाहिए।[52] यह ज्ञान उसी मधुवृत्ति के अभ्यास से संभव है। परंपराबोध जन्मजात नहीं होता यह श्रम साध्य है।[53] यह परंपरा-बोध विद्यापति में भी था। उनकी पदावली में जो कुछ है लगभग सब पहले से कहीं-न-कहीं विद्यमान

था लोकमानस में, पहले के कवियों के यहाँ। खुद नागार्जुन ने जयदेव के गीतगोविन्द से विद्यापति के पदों का साम्य दिखाया है।[54] वहाँ कालिदास के ऋतुसंहार एवं मेघदूत से समानता है। सादृश्यमूलक अलंकारों का दुहराव है। कहीं–कहीं पूरा अनुवाद ही है मैथिली में। मसलन काव्य प्रकाश के चतुर्थ अध्याय में चैतन्यदेव का एक श्लोक उद्धृत है–

"धन्याऽसि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि
विस्त्रब्ध चाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः! शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि।"[55]

(तुम धन्य हो जो प्रियसंगम के समय जो कुछ हुआ, जो–जो उसने किया, रति की अवस्था में जो–जो उसने किया, तुम्हें लगा, जो–जो उसने या तुमने कहा वह सब तुम्हें याद है। यहाँ तो प्रिय ने जैसे ही नीवीबंध पर हाथ रखा, हे सखि! मैं शपथ खा कर कहती हूँ मुझे कुछ भी याद नहीं रहा।) अब विद्यापति पदावली के पद संख्या 86 की ये पंक्तियाँ देखें–

"जब निबिबंध खसाओल कान।
तोहर सपथ हम किछुजदि जान।।"

(मेरा कटिबन्ध (नीबी) ढीला करके जब उसने वस्त्र को नीचे खिसक जाने दिया, तो कसम तेरी, फिर क्या हुआ, पता नहीं! (अनु. नागार्जुन)

लेकिन केवल इतने से विद्यापति अनुवादक मात्र नहीं हो जाते। यह उनकी मौलिक प्रतिभा थी जिसने पहली बार 'देसल बयना' में परंपरा को नया स्वर, नया लय और नई भंगिमा प्रदान की। विद्यापति का अपना अवदान कहीं से कमतर नहीं होता। जयदेव के यहाँ कृष्ण एक महामानव की तरह आता है। उनके यहाँ सहस्रों गोपियों के संग कान्हा रति करता है। एक कॉस्मिक रति है वहाँ, परन्तु विद्यापति का

कान्हा हमेशा रसिया पुरूष ही है। सूरदास का कृष्ण भी अवतारी है, रासलीला करता है लेकिन एक आध्यात्मिक गौरव के साथ। हजारों गोपियों को संतुष्टि देने वाला!

गीतगोविंद का प्रस्तुत पद देखिए–

विपुलपुलक भुजपल्लववलयितवल्लवयुवतिसहस्रं
करचरणीरसि मणिगणभूषण किरणविभिन्नतमिस्रं

(हरि जिस समय आनंदमग्न हो अपनी बड़ी–बड़ी बाँहों से हज़ार–हज़ार गोपियों को एक साथ ही आलिंगित करते हैं, उस समय उनके कंकण–नूपुर और हार की मणियों की उद्दीप्त आभा से अँधेरा भाग जाता है।[56]

कवि के यहाँ जो परंपराबोध है वह अनुवादक के पास भी होना चाहिए। इस लिहाज से नागार्जुन एक सक्षम और समृद्ध अनुवादक नज़र आते हैं। तो नागार्जुन जैसे कवि और अनुवादक का आकर्षण कालिदास के प्रति भी है, जयदेव के प्रति भी है, विद्यापति के प्रति भी है। इसलिए इन्होंने मेघदूत का भी अनुवाद किया, गीत गोविन्द का भी और विद्यापति के पदों का भी। अनुवाद करके उन्होंने कविता के रूप में जो कुछ पाया है, जो हृदय पाया है, जो सरसता पायी है, जो भावाकुलता और लय पायी है, छंदों के बारे में जो कुछ सीखा है, प्रेम का जो संगीत पाया है, उसका कुछ अंश दुनिया को लौटाने की कोशिश की है। कवि के रूप में वह कालिदास से पूछते भी गए हैं कि 'कालिदास सच–सच बतलाना। 'रोया यक्ष कि तुम रोये थे?' और लखिमा देवी को विद्यापति की प्रेयसी बता मजा भी लेते हैं–

कवि कोकिलक कल–काकलिक रसमज्जरी
लखिमा, अहाँ छलि है वे अद्भुत सुन्दरी
रूष्ट होइतहुँ रूपसी
कहि दैत कियो यदि अहाँ के विद्यापतिक कवि–प्रेयसी
अहाँ अपने मौन रहितहुँ
कहानिहारेक मुदा भ जइतैक सत्यानाश।[57]

ये सब कहना या पूछना नितांत मानवीय अनुभूतियों के रूप में कवि की रचना–प्रक्रिया को समझने की कोशिश भी है। यह वैयक्तिक भावों के निर्वैयक्तिक होने की प्रक्रिया को समझना है। यह समस्त प्राचीन साहित्य से जुड़ना भी है और सचेत अलगाव भी है (ब्रेस्ट के एलिनियेशन इफेक्ट की तरह)। जैसे कविता करते वक्त इस दाय का प्रतिदान करता है अनुवाद करते वक्त भी यही करता है।

अनुवाद भाषाई समझ के विस्तार और शिक्षण का भी साधन है। दो भिन्न भाषाओं में अभिव्यक्त संवेदना को समझने और अनुभव करने की प्रक्रिया में सांस्कृतिक और भाषिक विविधता की अनुभूति भी शामिल होती है। "अनुवादक की इस विशिष्ट अनुभूति के बतौर ही उभय भाषा और उसमें अभिव्यक्त संवेदना और विचारों के पलड़ों को सही अनुपात में तौलकर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए, अपनी ओर से जोड़–तोड़ करते जाता है। मेरी दृष्टि में यह जोड़–तोड़ का हिसाब ही भाषिक और सांस्कृतिक विविधता का प्रमाण है। अगर अनुवादक के पास सांस्कृतिक, सामाजिक अनुभूति का अत्यंत सहज संवेद्य हृदय है और भाषा प्रयोग की शास्त्रीय एवं व्यावहारिक निपुणता है तभी वह इस विविधता की अनुभूति जोड़–तोड़ के कलात्मक कर्म में सफल हो सकता है और न्याय भी दे सकता है।"[58] नागार्जुन के पास सांस्कृतिक, सामाजिक अनुभूति का अत्यंत सहज संवेद्य हृदय भी है और भाषा प्रयोग की शास्त्रीय एवं व्यावहारिक निपुणता भी। इसलिए पदावली के अनुवाद में जो थोड़ा बहुत जोड़–तोड़ है वही तो नागार्जुन की कलात्मक निपुणता का प्रमाण है। नागार्जुन ने पदावली का अनुवाद गद्य में किया है। यह जानते हुए गद्य में किया है कि मैथिली पदों की जो तरलता और संगीतमयता है वह पूरे अर्थ के साथ हिन्दी के छंदों में उतर नहीं पाएगी। उन्होंने मेघदूत का अनुवाद पद्य में किया। इसे नागार्जुन ने 'निबंध मुक्तवृत्त' छंद में अनूदित किया है। मूल मंदाक्रांता छंद के अंदर गुंफित भावों के लिए बाबा को यही सबसे उपयुक्त जान पड़ा। परन्तु जयदेव और विद्यापति के पदों को उन्होंने छंदों में नहीं ढाला। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि मूल का मजा अनुवाद में नहीं आ पाया। दूसरी बात, जो खास काट के पद हैं– राग–रागिणियों पर

ढले हुए– उसके सार और सरसता को पद्यानुवाद में कभी प्रस्तुत किया भी नहीं जा सकता। एक पंक्ति में वही विवादित प्रश्न कि कविताओं का अनुवाद संभव भी है क्या? एक तो नागार्जुन मैथिली के पदों के बारे में जानते हैं कि सामान्य पाठक (हिन्दी पाठक) अगर इसके अर्थ को समझ जाए तो फिर मूल के पाठ से खुद को आसानी से जोड़ लेगा। दूसरा उनका अनुवाद नागार्जुन ने जिस तन्मयता से किया है उसमें हिन्दी का जो सहज प्रवाह है उसे और पदों के भीतर के भाव-नाट्य को भी कहीं छोड़ा नहीं गया है। अनुवाद की भूमिका में भाव–नाट्य की जिस संभावना की ओर उनका इशारा है,[59] पूरे अनुवाद में उसकी छाप है। राधा और कृष्ण के मान-मनौवल, सखियों की छेड़खानी, दूती के संवाद, आत्मगत कथनों आदि में छिपी नाटकीयता को नागार्जुन ने अपने अनुवाद में एक्सप्लोर किया है। कहीं–कहीं तो आप कह नहीं सकते कि यह केवल गद्य है।

पद संख्या 63 का अनुवाद देखिए–

बतला दो, छल न करो सुंदरी। क्या बात है, जरूर बतला दो। आज तुमने अनूठी सज्जा सजाई है– कितनी जँच रही हो! (मूल है– कह कह सुन्दरि नकर ब्याज। देखिए आजु तुअ अपरूब साज।।)[60]

पद 65 का अनुवाद भी देखिए–

"कान्हा, मुझ पर नाराज नहीं होना! देर हुई, इसमें मेरा कसूर नहीं। आज सारा कसूर विधाता का है।

मैं कैसे निकलती मकान से? बाहर जोरों की वर्षा हो रही थी। चारों ओर पानी ही पानी भरा था।

रास्ते पर बड़ी फिसलन थी। मेरे नितंब भारी हैं न! कितनी बार गिरी हूँ, क्या बताऊँ!

बादलों के अंदर बिजलियाँ कौंध रही हैं। जल-धाराएँ मोटे–मोटे प्रवाहों में उमड़ पड़ना चाहती हैं।

एक गुना अंधकार लाख गुना हो गया। (पता नहीं चलता किधर उत्तर है किधर दक्षिण)

कान्हा मुझ पर नाराज नहीं होना, मेरा कसूर नहीं है आज।"[61]

पहले उदाहरण में नागार्जुन ने वार्तालाप की उस लय और उस हठभाव को पकड़ा है जो 'कह–कह सुंदरि...., से व्यक्त हो रहा है। इसके बाद के उदाहरण में 'कान्हा मुझ पर नाराज़ नहीं होना! देर हुई, इसमें मेरा कसूर नहीं से लेकर आख़िरी पंक्ति में पुनः 'कान्हा, मुझ पर नाराज़ नहीं होना, मेरा कसूर नहीं है आज' पर लौटने तक पद के स्वतंत्र तत्त्व के भीतर भाव की समग्रता को बनाए रखा गया है। राधा के स्पष्टीकरण की तीव्रता और स्वयं को निर्दोष साबित करने की चाह को मूल पद के आंतरिक भाव के रूप में नागार्जुन ने पहचाना। इसलिए जहाँ मूल पद में अंतिम पंक्ति है– 'ए हरि से करिअ मोहि जन रोस। आजुक विलम्ब दइब ढिअ दोस।।' वहीं नागार्जुन ने इसे शुरू से ही पद के टोन के रूप में अनूदित किया है। फिर इस अनुवाद को आप पद्यानुवाद से कमतर नहीं कह सकते। नागार्जुन के द्वारा इसी पद की दो पंक्तियों का पद्यानुवाद भी किया गया है। इससे तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

मूल है–

बिजुरि–छटा दरसाव मेघ। उठए चाह जल धारिक थेघ।।
एक गुन तिमिर लाख गुन भेल। उतरहु दखिन भान दुर गेल।।

अनुवाद है–

"बादलों से छिटक–छिटक
कौंध रही बिजलियाँ
बरस–बरस लग जाना चाहता है

ढेर–ढेर सा पानी
एक गुना अँधेरा हो गया लाख गुना
उत्तर–दक्षिण का आभास तक मिट गया..."[62]

नागार्जुन ने पद में आए क्रिया बिंबों को अपने अनुवाद में एक तार्किक परिणति दी है। ऐसा नहीं है कि इस क्रम में नागार्जुन ने अपनी तरफ से कुछ विशेष जोड़ा या घटाया है। कभी–कभी क्रम बदल देने मात्र से क्रियाओं के बीच कार्य–कारण का संबंध बन जाता है। अब पद संख्या 25 के अनुवाद में ऐसा ही है–

लहु–लहु चरण चलिए गृह माझ। आजु दहबें मोहि राखल लाज
तन मन बिबस खसए निबि–बंध। कि कहब विद्यापति रहु धन्द।।

प्रसंग यह है कि कान्हा की बाँसुरी बज रही है। उसकी मधुर–सुरीली आवाज़ राधा के कानों में 'ज़हर' भर रही है। ये ज़हर उसे लगातार बेसुध किए जा रहा है। कानों के अंदर पहुँचते ही ऐसी बेसुधी तारी हो जाती है कि तन–मन की सुध ही खो जाती है। देह पुलकनों से भर जाती है। डर लगता है कि इन पुलकनों को कोई और तो नहीं देख रहा है। बड़े–बूढ़े सामने बैठे हैं– कोई देख ले तो क्या हो? बड़ी मुश्किल से अंगों को ढ़ँकती है, चेष्टाओं को छिपाती है। नागार्जुन ने इन पंक्तियों का अनुवाद किया है "आज तो शरीर और मन ऐसे बेसुध हो उठे कि साड़ी की गांठ ही खुल गई। मैं बहुत धीरे–धीरे चलकर घर के बीचो–बीच पार कर गई। आज विधाता ने लाज रख ली।"[63] यहाँ अनुवाद के वक्त पंक्तियों के क्रम को अर्थोद्घाटन की दृष्टि से बदला गया है। इसी कारण क्रिया बिंबों को सार्थक और तार्किक परिणति मिली है। इसकी तुलना में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा किए गए अनुवाद को देखें तो मामला साफ हो जाएगा।[64] एक तो वहाँ 'नयन न हेरि हेरए जनि केह।।'[65] में 'जनि' का अर्थ 'सखि' लिया गया है,[66] जो कि उचित नहीं है। और, इस पंक्ति का अनुवाद है "(मैं अपनी) आँखों देख नहीं पा रही थी कोई सखी मुझे देख रही है।"[67] जबकि नागार्जुन का अनुवाद ज्यादा निकट है "(देह पुलकनों से भर उठती है) लगता है, देखने का काम आँखें नहीं कर रही हैं कोई और कर रहा है।"[68]

दूसरी ओर बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् वाले अनुवाद से यह पता ही नहीं चलता है कि घर के अंदर धीरे–धीरे जाने का संबंध बेसुधी में साड़ी की गांठ के खुलने से है। नागार्जुन की यह विशेषता पूरे अनुवाद में प्रकट है। पद 38 का अनुवाद भी द्रष्टव्य है–

"प्रथमहि सुन्दरि कुटिल कटाख। जिब जोखि नागर देअ दस लाख।।
केओ देअ हास सुधा सम–नीक। जइसन परहोंक तइसन बीक।।
सुनु सुंदरि नव मदन–पसार। जनि गोपह आओब बनिजार।।
रोस दरसि रस राखब गोए। धएलें रतन अधिक मूल होए।।
भलहि न हृदय बुझाओब नाह। आरति गाहक महंग बेसाह।।
भनइ विद्यापति सुनह सयानि। सुहति बचन राखब हिअ आनि।।"[69]

अनुवाद है–

सुदंरी, पहली चितबन पर ही वह तुम्हें दस लाख दे देगा; क्योंकि वह भारी रसिया है...वह तो नटनागर है, पक्का छैलाबिहारी!

हाँ, कोई–कोई तो ऐसे अवसरों पर हास–परिहास का ही अमृत वितरण कर देती है...शुरू–शुरू में जैसा 'शुभ–लाभ' (बोहनी), होता है बिक्री उसी धड़ल्ले से चलती है।

सुंदरी–तुम्हारी तो नई–नई दुकान है...छिपाकर माल को न रखो। व्यापारी आने ही वाला है... ऊपर–ऊपर से तो भले ही रोष (कड़ापन)- ज़ाहिर करो, अंदर की कोमलता (रस) छिपाए रखना! जुगाए हुए रतन का दाम ज़्यादा ही मिल जाता है। दिल की बात प्रगट न होने देना...गाहक गर्ज़मंद होता है तो निश्चय ही सौदा महँगा लेता है।

कवि विद्यापति कहते हैं– "तुम तो बड़ी सयानी हो, अपनी भलाई की बातें हृदय में सुरक्षित रखना!"

अब मदन-बाज़ार में रूप की दुकान का जो पूरा मामला है उसको नागार्जुन ने अनुवाद में भी उतारा है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा संकलित पदावली में जो अनुवाद प्रथम दो पंक्तियों का किया गया है वह शब्दकोशीय अनुवाद है। दरअसल 'शब्दों' के अनुवाद तभी सार्थक होते हैं जब पूरे पद में वह तारतमिक को निभा सके। कान्हा, जो नटनागर है, पक्का छैलाबिहारी है ('छैलाबिहारी' विशेषण अपनी तरफ से जोड़ते हैं। इस विशेषण का 'छैला' शब्द जिस तरह दिलफेंक व्यक्ति की ओर इशारा करता है, वह इस जगह अनुवाद की बहुस्तरीय विशेषता को ही दिखाता है), वह राधा की एक कंटीली चितवन पर ही दस लाख न्योछावर कर देगा। अतः 'कृष्ण की दूती' इस ओर इशारा किए दे रही है कि ज़्यादा–ज़्यादा मत देना। बयाना रखना। जुगाए गए रत्न की कीमत बढ़ती जाती है। गाहक गर्ज़मंद है और वस्तु दुर्लभ। वरना कुछ लोग तो ऐसे अवसरों पर चितवन की क्या कहिए हास–परिहास का अमृत तक बाँट देते हैं! अब आगे की बिक्री की राम जाने। कहा भी कहा गया है जैसी बोहनी वैसा लाभ! तो पद के भीतर का मूल स्वर अनुवाद में आया है। यह विशेषता अन्य किसी भी अनुवाद में नहीं है।

परन्तु कहीं–कहीं नागार्जुन से चूक भी हुई है। यहाँ तक कि मूल पाठ के कुछ शब्दों का वह अनुवाद ही नहीं करते हैं। इससे अर्थ कई बार अस्पष्ट ही रह जाता है।

"की हमे साँझक एकसरि तारा भादब चैठिक ससी।।
इथि दुहु माझ कओन मोर आनन जे पहु हेरसि न हँसी।।"

अनुवाद है–

प्रीतम, मेरी ओर क्यों नहीं देखते हो? क्या मैं अकेली तारा हूँ? क्या मैं भाद्रपद की चौथी तिथि का चाँद हूँ? इन दोनों में से मेरा मुख किससे मिलता है जो तुम मेरी ओर हँसकर नहीं देख रहे हो?"[70]

यहाँ नागार्जुन 'साँझक एकसरि तारा' का अनुवाद करते वक्त 'साँझ' को हटा देते हैं। जबकि सांध्यकालीन एकाकी तारा के बारे में ही यह प्रचलित है कि वह अशुभकारी होता है। यहाँ सिर्फ 'अकेली तारा' कहना अपर्याप्त है और अर्थसंकोच का कारण है। पद संख्या 55 की आंरभिक पंक्ति है–

"सामरि हे झामरि तोर देह। कह–कह का सए लाओल नेह।।"

अनुवाद है–

"सुंदरी, तुम्हारी सूरत फीकी पड़ गई है। बोलो, किससे प्यार हो गया है?"[71]

यहाँ सामरि का अर्थ 'सुंदरी' लेकर देह के मलिन होने को सूरत फीकी होना बताया गया है। परंतु अगर सामरि का अर्थ साँवरी या श्यामा[72] लिया जाए तो देह का मलिन होना ही उपयुक्त अर्थ होगा। 'नेह' होने के बाद चेहरा तो उदास, मलिन होता ही है पूरा शरीर भी वहाँ मिलन हो जाता है। यहाँ अनुवाद होना चाहिए था–

श्यामा या साँवरी तुम्हारी तो पूरी देह मलिन पड़ गई है। बोलो, किससे प्यार हो गया है?

क्योंकि, अगर श्यामा की सूरत मलिन होगी तो वह काली ही हो जाएगी जबकि अगली पंक्ति में ही कहा गया है "कोमल बदन कमल–रुचि चोर।"[73]

पद संख्या 4 है–

"सैसव जौवन दरसन भेल। दुहु दल–बलहि दन्द परि गेल।
कबहुँ बाँधए कच कबहुँ बिथार। कबहुँ झाँपए अंग कबहुँ उघा।।
थीर नयन अथिर किछु भेल। उरज उदय–थल लालिम देल।।
चपल चरन, चित्त चंचल भान। जागल मनसिज मुदित नयान।।
विद्यापति कह करू अवधान। बाला अंग लागल पंचबान।।"[74]

प्रस्तुत पद में आए 'मुदित' शब्द का अर्थ नागार्जुन ने खिलना लिया है जबकि बेनीपुरी ने मुदित को 'बंद' अर्थ में लिया है।[75] नागार्जुन ने अनुवाद किया "पैरों की

गति में तो चपलता थी ही, अब मन भी उड़ने लगा। कामदेव जागा, आँखें खिल उठीं।"[76] बेनीपुरी जी के यहाँ इसका अनुवाद कुछ इस तरह है– 'पैर चंचल थे ही अब चित्त भी चंचल मालूम होता है। कामदेव जग तो गया पर उसकी आँखें बंद ही हैं, अभी पूरी नहीं खुलीं।"[77]यहाँ बेनीपुरी का अनुवाद ज़्यादा उचित जान पड़ता है। कारण यह पूरा पद 'सैसव–जोवन' के संधिकाल में होने वाले परिवर्तनों को बता रहा है। ऐसी अवस्था में चरण–चपलता और चित्त की चंचलता तो बढ़ ही जाती है लेकिन काम का उद्दाम आवेग अभी नहीं आता। इस कारण आधी जागृति का भान कराने वाला बेनीपुरी का अनुवाद ज्यादा अर्थगर्भित है। ध्यातव्य है कि अगली पंक्ति में विद्यापति कहते हैं 'बाला अंग लागल पंच बान'। यहाँ 'बाला' शब्द का प्रयोग उसी संधिकाल की अवस्था को बता रहा है जहाँ यौवन की दस्तक तो है पूर्ण विकास नहीं है। अंगों से अभी–अभी ही 'पंचबान' छूटने लगा है।

उसी तरह पद संख्या 5 की पंक्तियाँ हैं–

"कि कहब माधव वयसक संधि। हेरइत मनसिज मन रहु बंधि।
तइअओ काम हृदय अनुपाम। रोपल कलस ऊँच कए ठाम।।"[78]

नागार्जुन ने अनुवाद किया है–

"माधव मैं तुमसे क्या बताऊँ। शैशव और तरुणाई मिलते हैं तो उस उम्र में ऐसा ही होता है। देखते ही कामदेव मन को बांध लेता है। हृदय के अंदर वह अनोखे चमत्कार पैदा करता है। उसने कितनी ऊँची जगह पर कलश रख दिए हैं।"[79]

बेनीपुरी का अनुवाद है–

"माधव! वयःसंधि (की बातें) क्या कहूँ–देखते ही कामदेव का मन भी बँध गया तथापि (बंदी होने पर भी) काम ने उसके अनुपम हृदय पर ऊँचा स्थान बनाकर कलस स्थापित कर दिया।"[80]

नागार्जुन के अनुवाद से 'तइअओ' शब्द की सार्थकता का पता नहीं चलता। उन्होंने इसका अनुवाद भी नहीं किया है। बेनीपुरी का अनुवाद ज्यादा सटीक है। 'मन

रहु बंधि' कामदेव (मनसिज) के लिए ही है। वयःसंधि का अनुपम सौन्दर्य कामदेव को भी बाँध लेता है। फिर भी (तइअओ) उसने अनुपम हृदय में घर तो कर ही लिया है, ऊँचा स्थान बनाकर कलस स्थापित कर लिया है।

इसके बावजूद ज्यादातर जगहों पर नागार्जुन ने काफी सटीक अनुवाद किया है। मसलन पद संख्या 20 में पंक्ति आती है–

"जहाँ जहाँ कुटिल कटाख। ततहिं मदन–सर लाख।।
हेरइत से धनि थोर। अब तिन भुवन अगोर।।"[81]

बेनीपुरी 'अगोर' का अर्थ प्रतीक्षा लेते हुए[82] गलत चुनाव करते हैं। नागार्जुन ने 'अगोर' का अनुवाद उजागर किया है। पूरा अनुवाद है–

भौंहे तिरछी होती हैं तो लगता है, कामदेव के लाख तीर साथ–साथ छूटे हैं। सुंदरी को देखता हूँ तो मेरे लिए तीनों भुवन उजागर हो उठते हैं।"[83]

आगे पद 21 में पंक्तियाँ आती हैं–

"गोरस बिरस बासी बिसेखल छकहि छाड़ल गेह।
मुरलि निसान मो मन मोहल बिकहु भेल सन्देह।।"[84]

बेनीपुरी ने 'छकहि' शब्द का अर्थ 'छींकने पर' लिया है[85] जबकि 'छकहि' का अनुवाद है 'छींके पर'। नागार्जुन ने अनुवाद किया है–

"गोरस बिरस हो गया। बासी को मैंने अच्छा समझकर-छींके पर लटका दिया। बाँसुरी ने मेरे मन को मोह लिया। बेचने के काम से निकली तो घोटाले में पड़ गयी।"[86]

एक बार कान्हा को देखने की गलती कर गई है राधा। बस आधी नजर ही देखा था, लेकिन उस कठोर बहेलिए ने इतने में ही मन–मृग को बुरी तरह बेध डाला है। अब कहीं मन टिकता ही नहीं है। ऐसी कैफियत तारी हुई है कि सबकुछ

उलटा–पुलटा होने लगा है। क्रियापदों के लोप के कारण मूल पद में जो हड़बड़ाहट है, जो अधीरता है उसे अनुवाद में भरसक सँभाला गया है।

नागार्जुन ने पदों की पंक्तियों के क्रम को कई बार बदला है तो कई बार पंक्ति के भीतर शब्दों के क्रम को भी यथावत रखा है। दोनों ही स्थितियों का प्रयोग उन्होंने अर्थ और लय की रागात्मकता को बनाए रखने के लिए किया है। पद संख्या 84 में है–

"किंकिनि किनिकिनि कंकन कनकन घनघन नुपूर बाजे।।
रति-रन मदन पराभव मानल जय -जय दुन्दुभि बाजे।।"[87]

अनुवाद है–

"किंकिणियाँ बज रही हैं किन-किन, किन-किन...कंगन बज रहें कन-कन, कन-कन... घन-घन बज रहें नूपूर।

रतिरण में कामदेव ने अपनी हार मान ली है, जीत के नगाड़े बज रहे हैं।"[88]

यहाँ स्वरयंत्र और नाद ध्वनियों का ठीक वही क्रम रखा गया है जो मूल पद में है। अनुवाद की यह विशेषता होती है कि 'मूल' की संरचना में बिना छेड़–छाड़ किए अगर संभव अर्थ निकल आए तो बेहतर है। यह बात पदों के अनुवाद के विषय में और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। होता यह है कि (अनुवाद भी सृजन कर्म है!) रचना की संरचना अपनी भाषाई भिन्नता के कारण, वाक्य–रचना की भिन्न संगतियों के चलते पाठक को 'अजनबीयत' का बोध कराता है। 'अजनबीयत' की यह प्रक्रिया ही रचना के भिन्न सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य को भी बार–बार प्रकट करता चलता है। जैसे साहित्य हमारे जाने हुए को निरंतर 'अजनबीया' कर हमारे अवबोध को झटका देता है, वैसे ही अनुवाद की सफलता स्रोत भाषा और सांस्कृतिक परिवेश का निरंतर बोध कराते रहने में है। नागार्जुन ने लगातार 'खुबना', 'भुच्चड़', 'भकर–भकर', 'भकोसना' जैसे शब्दों के प्रयोग से भी इस प्रक्रिया को संपन्न किया है।

नागार्जुन ने कई बार अनुवाद में अर्थ सामंजस्य के लिए अपनी तरफ से बहुत कुछ जोड़ा है। मसलन पद संख्या 120 में है–

"टपर–टपर कए बसहा आएल खटर–खटर रूँडमाल।।
भकर–भकर सिव भाँग भकोसथि डमरू लेल कर लाए।"[89]

इसका अनुवाद है–

"टपर–टपर करते हुए बैल आया। गले में हाड़ों की माला खटर–खटर बोल रही थी। शिव ने भकर–भकर भंग भकोस ली। सूखी पत्तियाँ ही चबा डालीं। हाथ में ले लिया डमरू।"[90]

यहाँ मूल पद में कहीं नहीं है कि 'सूखी पत्तियाँ ही चबा डालीं'। लेकिन भाँग को 'भकर–भकर' 'भकोसने' से क्या मतलब है उसको स्पष्ट करने के लिए उन्होंने लिखा कि 'सूखी पत्तियाँ' चबाई गई हैं। उसी तरह कई जगह जहाँ आँखों को भौंरे की तरह बताया गया है वहाँ नागार्जुन ने 'कजरारी आँखें' अपनी तरफ से जोड़ा है।[91] कहीं–कहीं पद में आए उपमा अलंकार को अनुवाद में रूपक बना दिया गया है। पद 29 में पंक्ति है–

"साओन–घन सम झर दु नयान। दूसरी पंक्ति अबिरात धक–धक करए परान।।"[92] दोनों आँखें सावन के बादलों की तरह झर रही हैं। नागार्जुन ने अनुवाद किया है– 'दोनों आँखें सावन के बादल बन गई हैं।'

'भनई विद्यापति...' वाली छापे की आखिरी पंक्तियों का कई पदों में नागार्जुन ने अनुवाद नहीं किया है। जैसे पद-संख्या 30, 59, 61, 63, 78। ऐसा कई बार दुहराव से बचने के लिए किया गया है। 'विद्यापति कवि एहो रस भान। राजा सिवसिंध सब रसक निधान' या फिर 'राजा सिवसिंघ रूपनारायण लखिमा देवी रमाने'– जैसी पंक्तियों की पुनरावृत्ति लगातार है। अतः इनका अनुवाद नागार्जुन ने आवश्यक नहीं समझा है। लेकिन कई अन्य पंक्तियाँ भी हैं, जिन्हें नागार्जुन ने गोल कर दिया है। उदाहरणार्थ–

i) "भनइ विद्यापति सुनुबर जीवति मेदिनी मदन समाने।"[93]

ii) "भनइ विद्यापति सुनुबर नारी। धैरज धरू मन मिलन मुरारि।।"[94]

iii) "अपनेहु मने धनि बुझ अवगाहि। तोबर दुषन वध लागत काहि।।"[95] कई पदों में 'माधव' 'हरि' आदि शब्दों का बार–बार अनुवाद में उपयोग नहीं किया गया है। उनकी जगह कान्हा या 'नागर' जैसे शब्द ही हैं। अनुवाद में शब्दों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। नागार्जुन ने इस बात का खासा ध्यान रखा है कि शृंगारिक पदों के भावों को व्यक्त करने में कौन से शब्द अधिक सार्थक होंगे। अनुवादक शृंगारिक भाव वाले संबोधन को ही महत्व देता चला है। 'हरि' आदि से जो भाव संप्रेषित होता है वह यहाँ काम्य नहीं है।

प्रत्येक भाषा की अपनी संस्कृति होती है। एक–एक शब्द में प्रतीक छिपे होते हैं। मिथिला क्षेत्र के मैथिली भाषा की भी अपनी संस्कृति है, वह संस्कृति नागार्जुन के लिए अनोखी नहीं है, वह उनकी अपनी, जानी–पहचानी और भोगी हुई है। मैथिली शब्दों की संस्कृति का ज्ञान नागार्जुन को था। जिसके उदाहरण के बतौर पदावली का अनुवाद हमारे सामने हैं। फिर भी कई जगहों पर अनुवाद में शब्द प्रयोग की असंगति व्यक्त हो ही जाती है। पद–संख्या–73 में विद्यापति ने कृष्ण की लालची प्रवृत्ति को व्यक्त किया है। हाँलाकि अंतिम की दो पंक्तियों के अनुवाद में शब्दों का उचित प्रयोग नहीं लगता।

"माधव इ नहि उचित विचार।
जनिक एहनि छनि कामकला सनि के किअ अरू बेभिचार।

. . . . . .

भनई विद्यापति सुन मधुरापति ई थिक अनुचित काज।
मांगि लाएब वित से जहि होनित अपन करब कोउ काज।।"[96]

अनुवाद–

"माधव यह तुमने अच्छा नहीं किया। जिसकी प्रेयसी इतनी सुन्दरी हो, देखने में रतिरानी लगे, वह क्यों दूसरी औरत के पास जाएगा?

. . . . . .

विद्यापति ने कहा– कृष्ण यह तुम अच्छा नहीं कर रहो हो! माल अपने पास मौजूद है, फिर भी मांगने की तुम्हारी लत नहीं छूटती है।"[97]

अंतिम पंक्ति में विद्यापति जिस संपत्ति की बात करते हैं वह 'राधा' ही है। किन्तु नागार्जुन ने अनुवाद में इसके लिए 'माल' शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ यह प्रयोग पाठकों के भाव ग्रहण में बाधा उत्पन्न करता है।

काव्यानुवाद में शब्दों के सटीक प्रयोग न होने से कविता का अर्थ बिगड़ जाता है। एकाध स्थानों पर अनुवादक से इस प्रकार की भूल हुई है।

ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि यद्यपि यह अनुवाद पूर्णतः निर्दोष नहीं है, इसके बावजूद अपनी आंतरिक संगति में यह अन्य अनुवादों से श्रेष्ठ है और मूल भाव और रागात्मकता को गद्य की भाषा में पकड़ने का सफल प्रयास है। नागार्जुन के कवि मन की सरलता का आभास इन अनुवादों में मिलता चलता है। स्रोत भाषा और लक्ष्य भाषा दोनों पर उनके ज़बरदस्त अधिकार की धमक भी इन पदों के अनुवाद में साफ तौर पर सुनी जा सकती है।

संदर्भ सूची

[1] Raymond Williams, Marxism and Literature, p. 20

[2] वही, पृ. 17

[3] एजाज अहमद से रमेश उपाध्याय की बातचीत, 'जीवन के अर्थ देने वाली प्रक्रिया है संस्कृति' शीर्षक से प्रकाशित, संस्कृति और व्यावसायिकता, सं. रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, शब्द संधान, नई दिल्ली, 2006

[4] अखिलेश झा, मिथिला : लोक संस्कृति एवं लोककथाएँ, पृ. 15,

[5] गोविन्द झा, मैथिली भाषा का विकास, पृ. 111

[6] वही, पृ. 113

[7] वही, पृ. 114

[8] भोलानाथ तिवारी, हिन्दी भाषा, पृ. 77

[9] गोविन्द झा, मैथिली भाषा का विकास, पृ. 243

[10] नागार्जुन का लेख, 'मैथिली आ हिन्दी' में उद्धृत', अंतिका, अप्रैल–जून, 2000, पृ. 17

[11] वही, पृ. 117–118

[12] गोविन्द झा, मैथिली भाषा का विकास, पृ. 190

[13] भोलानाथ तिवारी, हिन्दी भाषा, पृ. 77

[14] नागार्जुन का लेख, 'मैथिली आ हिन्दी' में उद्धृत', अंतिका, अप्रैल–जून, 2000, पृ. 118

[15] गोविन्द झा, मैथिली भाषा का विकास, पृ. 208

[16] वासुदेवनन्दन प्रसाद, सरल हिन्दी व्याकरण और रचना, पृ. 08

[17] गोविन्द झा, मैथिली भाषा का विकास, पृ. 135

[18] नागार्जुन का लेख, 'मैथिली आ हिन्दी' में उद्धृत', अंतिका, अप्रैल–जून, 2000, पृ. 114

[19] नागार्जुन का लेख, 'मैथिली आ हिन्दी' में उद्धृत', अंतिका, अप्रैल–जून, 2000, पृ. 114

[20] देखें, जनसत्ता, संपादकीय, 9 अप्रैल, 2008, नामवर सिंह द्वारा दिया गया व्याख्यान

[21] नागार्जुन का लेख, 'मैथिली आ हिन्दी' में उद्धृत', अंतिका, अप्रैल–जून, 2000, पृ. 117

[22] वही, पृ. 117

[23] नागार्जुन रचनावली – 3, पृ. 440

[24] वही, पृ. 442

[25] रामवृक्ष बेनीपुरी – विद्यापति पदावली, पृ. 33

[26] वही, पृ. 68

[27] वही, पृ.66

[28] Narayan Jha, The Sweetest Love Songs of Vidyapati, p.14.

[29] वही, पृ.19

[30] विद्यापति, आनंद कुमार स्वामी एवं अरूण सेन (अनु.), पृ. 185

[31] कुमारस्वामी का अनुवाद, 'The First passion of Krishna' उपशीर्षक से 'कृष्ण पूर्वग्रह', पृ. 7)

[32] नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 455

[33] वही, पृ. 168

[34] विभूति आनदं (सं.), विद्यापति पदावली, पृ. क, भूमिका से।

[35] वही, पृ.70-71

[36] नागार्जुन, यात्री समग्र (सं.), शोभाकांत, पृ. 356

[37] विद्यापति पदावली, प्रथम खंड, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पृ. 112

[38] नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 440

[39] डॉ. रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 491

[40] वही, पृ. 448

[41] नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 441

[42] रामवृक्ष बेनीपुरी, विद्यापति पदावली, पृ. 33

[43] वही, पृ. 32–33

[44] डॉ. रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 491

[45] Anand Coomaswami & Arun Sen, Vidapati, p. vii

[46] ibid, p. vii

[47] ibid, p. vii-viii-ix

[48] मार्क्स–ऐंजिल्स, साहित्य तथा कला, पृ. 98

[49] वही, पृ. 99

[50] नागार्जुन : रचना संचयन, संपादक राजेश जोशी, पृ. 283

[51] वही, पृ. 283

[52] T.S. Eliot के लेख 'Tradition and Individual Talent' से

[53] नागार्जुन : रचना संचयन, (सं.) राजेश जोशी, पृ. 283

[54] नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 440

[55] साक्षात्कार : 118–119, सितम्बर–अक्टूबर, 1989; 1982 को जबलपुर में दिए गए नामवर सिंह के व्याख्यान से उद्धृत; पृ. 8

[56] नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 545

[57] नागार्जुन, यात्री समग्र, शोभाकान्त (सं.) पृ. 11

[58] आलोचना त्रैमासिक, सहस्त्राब्दी, अंक– 19–20, परिमळ अम्बेकर, लेख 'अनुवाद : सांस्कृतिक और भाषिक विविधता की अनुभूति से उद्धृत

[59] नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 441

[60] वही, पृ. 483

[61] वही, पृ. 484–485

[62] नागार्जुन : रचना संचयन, संपादक राजेश जोशी, पृ. 282

[63] नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 458–459

[64] विद्यापति पदावली– तीसरा भाग, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ. 65

[65] नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 458

[66] विद्यापति पदावली– तीसरा भाग, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ. 65

[67] वही, पृ. 65

[68] नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 459

[69] वही, पृ. 467

[70] नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 492

[71] वही, पृ. 478

[72] विद्यापति पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी (सं.), पृ. 82

[73] नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 478

[74] वही, पृ. 444

[75] रामवृक्ष बेनीपुरी, विद्यापति पदावली, पृ. 37

[76] नागार्जुन रचनावली– 3, पृ. 444

[77] रामवृक्ष बेनीपुरी, विद्यापति पदावली, पृ. 37

[78] नागार्जुन रचनावली– 3, पृ. 444

[79] वही, पृ. 444

[80] रामवृक्ष बेनीपुरी, विद्यापति पदावली, पृ. 45

[81] नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 455

[82] रामवृक्ष बेनीपुरी, विद्यापति पदावली, पृ. 54

[83] नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 455

[84] वही, पृ. 455

[85] रामवृक्ष बेनीपुरी, विद्यापति पदावली, पृ. 55

[86] नागार्जुन रचनावली, पृ. 455

[87] वही, पृ. 496

[88] वही, पृ. 496

[89] वही, पृ. 521

[90] वही, पृ. 521

[91] वही, पृ. 496

[92] वही, पृ. 458

[93] वही, पृ. 492

[94] वही, पृ. 453

[95] वही, पृ. 462

[96] वही, पृ. 489

[97] वही, पृ. 489

उपसंहार

उपसंहार

एक पुरानी इतावली कहावत है *'traduttore, traditore'* अर्थात् , 'translator is traitor'। और यह कहावत कविताओं के मामले में सबसे ज्यादा मौजू हैं। आप कितना भी अच्छा अनुवाद कर लें कहीं–न–कहीं वह मूल को विकृत करता है। और यह अनुवाद–कर्म की सीमा है। इसके बाद भी श्रेष्ठतर प्रयासों को कौन रोक सकता है? विद्यापति के पदों का नागार्जुन द्वारा किया गया अनुवाद निश्चित रूप से एक श्रेष्ठतर प्रयास है। इस लघु शोध–प्रबंध में अनुवाद की रचनात्मकता और उसके सांस्कृतिक–सामाजिक योगदानों की चर्चा इसी विशेष संदर्भ में की गई है। दो सर्वथा भिन्न भाषाओं में होने वाले अनुवाद–कर्म में जो आनुभविक–सांस्कृतिक दिक्कतें आती हैं वह तो स्पष्ट है। वहाँ भिन्न परिवेश, भिन्न ऐतिहासिक अवस्थितियाँ और भाषा के भीतर से झाँकती भिन्न संस्कृतियों को आमने–सामने लाना पड़ता है। लेकिन जब आस–पास की दो भाषाओं की बात आती है, दो नजदीकी भाषाओं के बीच अनुवाद होता है तो क्या अनुवादक का काम आसान हो जाता है? मैथिली कवि विद्यापति के अनुवाद के बहाने इन पृष्ठों में जो विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है, उससे स्पष्ट है कि दूसरी स्थिति कहीं से भी आसान नहीं है।

एक निश्चित ऐतिहासिक दूरी पर खड़े विद्यापति के पदों के अनुवाद के द्वारा नागार्जुन ने न केवल साहित्य की सर्जनात्मक क्षमता का परिचय दिया है, वरन् हमने देखा कि कैसे प्रगतिशीलता के मिथक को तोड़ते हुए उन्होंने परंपरा और उसके विकास के सार्थक मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। इसलिए मैंने इसे महज अनुवाद के रूप में पढ़ने के बजाय एक सांस्कृतिक आलोचना के रूप में पढ़ा है। विद्यापति के पदों को लेकर चलने वाली बहसों को नागार्जुन के इस अनुवाद ने लगभग समाप्त कर दिया है, जो काम आलोचकों के लम्बे शोध नहीं कर पाए, उसे नागार्जुन का यह अनुवाद पूरा करता है। शृंगार की जिस मूल भावना से विद्यापति लिख रहे थे अनुवाद के भीतर उसे नागार्जुन ने एक्सप्लोर किया है। इसलिए भक्ति की मिथ्या आभा वाले अनुवादों से इसे श्रेष्ठ होना ही था।

शोध-कार्य के दौरान कई जगहों पर यह संकेत किया गया है कि पदावली के वैसे पद जहाँ प्रेम के विभिन्न चरणों का वर्णन है महज वे भक्तिपरक पद नहीं, शृंगारिक पद ही हैं। कई आलोचकों ने विद्यापति के पदों में आत्म, जीव और

परमात्मा के आध्यात्मिक और रहस्यवादी संकेतों को सायास ढूँढ निकाला है। परन्तु वैसे पद भी हैं जो 'दुर्गा', 'भवानी', 'शिव' को आधार बनाकर लिखे गए हैं वैसे पदों को शृंगारिक कतई नहीं कहा जाना चाहिए। लेकिन पदावली को समग्रता में पढ़ने के बाद इतना निश्चित हो जाता है कि ये पद नितांत शृंगारिक है। परन्तु शृंगारिक पद कहने से संयोग और वियोग का जो रूढ़ भान होता है, ये पद उससे आगे जाकर सामाजिक यौनिकता के लिए एक स्पेस पैदा करते हैं। मध्यकालीन यौन विमर्शों की सामाजिकी है इन पदों में। पदावली की भाषा, उसका नाद सौंदर्य, ध्वनि, संगीत, उसकी सरसता शब्दों में ऐसी गुँथी है कि यह अभी भी सर्वप्रिय बनी हुई है। किसी भी जनकवि की रचना की यही प्रमुख विशेषता होती है।

किसी भी कविता के अनुवाद की जटिलता उसकी लयात्मकता, ध्वन्यात्मकता, संगीतात्मकता, सांस्कृतिक–प्रतीक योजना के कारण ही सर्वाधिक आती हैं। प्रत्येक देश की संस्कृति और पौराणिक कथाएँ एक-दूसरे से भिन्न होती हैं और यह भिन्नता ही सांस्कृतिक संदर्भों से युक्त कविताओं के अनुवाद को दुष्कर बनाती हैं। उसे लक्ष्य भाषा में व्यक्त करने में कई समस्याएँ आती हैं। नागार्जुन ने इन सभी समस्याओं को ध्यान में रखते हुए पदावली का अनुवाद कर अपनी कलात्मकता का परिचय दिया है।

काव्यानुवाद की सबसे बड़ी समस्या यह है कि कविता में अर्थ बोध मात्र नहीं कराया जाता है बल्कि अर्थ का बिम्ब-विधान कराया जाता है। बिम्बों की सृष्टि, अलंकार योजना, प्रतीक योजना, लक्षणा-व्यंजना आदि शब्द-शक्ति, लय, तुक आदि को ध्यान में रखकर की जाती है। नागार्जुन ने अनुवाद करते हुए इन सबका ख्याल रखा है।

नागार्जुन स्वयं भी मैथिली के कवि हैं। कविता का अनुवाद और ज़्यादा सुन्दर और व्यापक तब होता है जब अनुवादक स्वयं कवि हो। नागार्जुन द्वारा मैथिली से हिन्दी में किया गया छायानुवाद और उनके अनुवाद कर्म का श्रेष्ठ उदाहरण है। हाँलाकि अनुवाद करते समय उनका रूप बदल दिया गया है। बावजूद इसके उन्होंने इसके भाव को पूरी तरह से हिन्दी में ले आने का प्रयास किया है। वैसे किसी भी भाषा से जब दूसरी भाषा में अनुवाद किया जाता है तब स्रोत भाषा का हू-ब-हू अनुवाद नहीं हो पाता। नागार्जुन ने विद्यापति के गीतों की

ताजगी और उसकी मूल संवेदना को बचाए रखने की हर संभव कोशिश की, तिस पर भी यह समस्या तो आती ही है। यह काव्यानुवाद की समस्या ही थी कि मेघदूत के पदों का पद्यानुवाद करने के बाद उन्होंने गीतगोविंद और विद्यापति के पदों का गद्यानुवाद किया। विद्यापति के पदों का उन्होंने क्यों अनुवाद किया और उनके अनुवाद की सफलताओं और चूकों को तीसरे अध्याय में सविस्तार बताने की कोशिश की गयी है। अनुवाद करते वक़्त नागार्जुन की साहित्यिक–ऐतिहासिक स्थिति का भी विश्लेषण वहाँ है। पतनशील सामंती शृंगारिकता के बीच से महान साहित्य के चरित्र निरूपण और परंपरा के महत्त्व को नागार्जुन की ठोस द्वंद्वात्मक समझ ने अपने अनुवाद–कर्म में गंभीरता और तारतमिकता प्रदान की है। कवि होने के नाते नागार्जुन का अनुवाद कर्म कहीं ज्यादा रचनात्मक ऊर्जा से संपन्न है। यह बात विद्यापति के अन्य अनुवादों की चर्चा से स्पष्ट किया गया है। हिन्दी और मैथिली भाषा के अंतर्संबंधों की चर्चा भी की गयी है जिसके सहारे प्रस्तुत अनुवाद की भाषायी दिक्कतों को समझने का प्रयास किया गया है। अनुवाद के साथ जो सांस्कृतिक और भाषाई अजनबीपन की प्रक्रिया संपन्न होती है यह उस अनुवाद की श्रेष्ठता का प्रमाण होता है। नागार्जुन का विस्तृत अध्ययन, सांस्कृतिक आलोचना की पैनी दृष्टि और सरल–सरस हृदय ने इन अनुवादों को अनुवाद कर्म के मॉडल के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

वैसे भी इस धुरधंर जनकवि के किसी भी रचनात्मक कर्म पर आख़िरी निष्कर्ष और मूल्यनिर्धारण की क्षमता इस लघु शोध–प्रबंध के दायरे से बाहर की चीज़ है। इसलिए 'निष्कर्षतः' जैसे पद का प्रयोग मैं नहीं करना चाह रही हूँ। फिर भी काव्यानुवाद की कुछ समस्याएँ-सीमाएँ हैं, वो नागार्जुन के अनुवाद में भी दिखती है। जहाँ तक पदावली के लय, संगीत, ध्वनि, नाद;- बिम्ब की बात आती है, हिन्दी अनुवाद में वह उसी आवेग के साथ नहीं आ पाई है। लेकिन कुल मिलाकर पदावली के इस अनुवाद को सफल अनुवाद की कोटि में रखा जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

आधार ग्रंथ

नागार्जुन रचनावली – 3
संपादन संयोजन-शोभाकान्त, राजकमल प्रकाशन,
नई दिल्ली, पटना, पहला संस्करण : 2003

संदर्भ ग्रंथ

(1) अखिलेश झा - **मिथिलाः लोक संस्कृति एंव लोककथाएँ**, रेमाधव पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद (उ. प्र.), 2007

(2) आचार्य श्रीरामलोचन शरण (संपा.), **विद्यापति की पदावली**, प्रथम भाग, संकलयिता - श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, भावार्थ- श्री दिनेशवर लाल 'आनन्द', पुस्तक भंडार, पटना*

(3) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - **हिन्दी साहित्य का इतिहास**, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2002

(4) इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त वि. वि., PGDT - 02- **अनुवाद का भाषिक और सामाजिक पक्ष**, प्रभात ऑफसेट प्रेस, दरियागंज, नई दिल्ली, 2001

(5) कुलदीप सलिल, अनु. - **अंग्रेजी के श्रेष्ठ कवि और उनकी कविताएँ**, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरीगेट, दिल्ली, 2006

(6) गंगाधर मिश्र - **कवि विद्यापति**, सरस्वती मंदिर, वाराणसी, 1960

(7) गोविन्द झा - **मैथिली भाषा का विकास**, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 2000

(8) गोविन्द झा - **मैथिली भाषाक उद्‌भव ओ विकास**, मैथिली अकादमी, पटना, 1985

(9) जयकान्तमिश्र - **महाकवि विद्यापति**, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थानम्, नई दिल्ली,1995

---

* प्रकाशन वर्ष अंकित नहीं है।

(10) जयन्ती प्रसाद नौटियाल - **अनुवाद : सिद्धांत एंव व्यवहार**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

(11) जयकान्त मिश्र - **मैथिली साहित्यक इतिहास**, साहित्य अकादमी दिल्ली, 1988

(12) जी गोपीनाथ, एस. रदास्वामी - **अनुवाद की समस्याएँ**, लोक भारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993

(13) दिनेश कुमार झा - **मैथिली साहित्यिक आलोचनात्मक इतिहास**, मैथिली अकादमी पटना, 1987

(14) दुर्गानाथ झा 'श्रीश' - **मैथिली साहित्यिक इतिहास**, भारती पुस्तक केन्द्र दरभंगा*

(15) देवेन्द्र झा - **विद्यापतिक श्रृंगारिक पदक काव्यशास्त्रीय अध्ययन**, अनुपम प्रकाशन, पटना, 1979

(16) देशराज सिंह भाटी - **विद्यापति पदावली**, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1976

(17) नगेन्द्र - (संपा.) **अनुवाद विज्ञान : सिद्धांत और अनुप्रयोग** हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली, 1991

(18) नागार्जुन - **चुनी हुई रचनाएँ**, सं. - शोभाकांत, वाणी प्रकाशन, 1993

(19) नगेन्द्र - **हिन्दी साहित्य का इतिहास**, मयूर पेपरबैक्स, नौएडा, 2001

(20) नवीन चंद सहगल - **काव्यानुवाद : सिद्धांत और समस्याएँ** हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1991

(21) निर्मला जैन, कुसुम बाँटिया-**पाश्चात्य साहित्य चितंन**, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2004

(22) पाब्लो नेरूदा, **पाब्लो नेरूदाः कविता संचयन**, अनु. एवं सं. - चंद्रबली सिंह, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2004

(23) पाश - **समय ओ भाई समय**, सं. एवं अनु. -चमन लाल राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

---

* प्रकाशन वर्ष अंकित नहीं है।

(24) पाश - **बीच का रास्ता नहीं होता**, अनु. एवं सं. - चमन लाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989

(25) पृथ्वीनाथ पाण्डेय - **सामान्य हिन्दी**, नालंदा पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, 2006

(26) बजरंग वर्मा - **विद्यापति–दर्शन**, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 2000

(27) बालगोविन्द झा - **मैथिली भाषा ओ साहित्य**, किरण प्रकाशन, पटना, 1984–85

(28) भोलानाथ तिवारी - **हिन्दी भाषा**, किताबमहल, दिल्ली, 2002

(29) मा० गो० चतुर्वेदी - **अनुवाद : विविध आयाम**, कृष्णकुमार गोस्वामी केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, 1986

(30) मैनेजर पांडेय - **साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका**, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2001

(31) मैनेजर पांडेय - **आलोचना की सामाजिकता**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

(32) मार्क्स–एजेंल्स, - **साहित्य तथा कला**, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981

(33) रामानंद झा रमण - **नवीन मैथिली कविता (आलोचना)**, मैथिली अकादमी, पटना, 1982

(34) रामवृक्ष बेनीपुरी - **विद्यापति पदावली**, लोकभारती, इलाहाबाद, 2005

(35) रामनिहाल गुंजन, **नागार्जुन : रचना प्रसंग और दृष्टि**, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002

(36) विभूति आनन्द - **विद्यापति पदावली**, (सं.) भवानी प्रकाशन पटना, 1985

(37) युगेशवर झा - **मैथिली व्याकरण आओर रचना**, भारती-भवन, पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, पटना, 1989

(38) वैद्यनाथ मिश्र 'यात्री' - **यात्री समग्र**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

(39) रामअवध द्विवेदी - **साहित्य सिद्वांत**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना, 1983

(40) रामवल्लभ शर्मा - **मैथिली संस्कार गीत**, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना, 2000

(41) रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय - **शब्द संधान**, (सं.), नई दिल्ली, 2006

(42) रीतारानी पालीवाल - **अनुवाद प्रक्रिया एवं अपरिदृश्य**, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2004

(43) राजमणि शर्मा - **अनुवाद विज्ञान**, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2004

(44) रामकुमार वर्मा - **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007

(45) रमण प्र. सिन्हा - **अनुवाद और रचना का उत्तर जीवन**, वाणी प्र. दरियागंज, नई दिल्ली, 2002

(46) वासुदेव नन्दन प्रसाद - **सरल हिन्दी व्याकरण और रचना**, भारती भवन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटरस, 1994

(47) विद्यापति, **विद्यापति पदावली**, प्रथम भाग, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 2000

(48) विद्यापति, **विद्यापति पदावली**, दूसरा भाग, संपादक मंडल, कुमार श्री गंगानन्द सिंह एवं अन्य, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 2004

(49) विद्यापति, **विद्यापति पदावली**, तीसरा भाग, संपादक मंडल श्री लक्ष्मीपति एवं अन्य, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 2000

(50) शशि मुदीराज - **अनुवाद मूल्य और मूल्यांकन**, रूचिर प्रकाशन नागपुर, 1988

(51) सत्यनारायण - **नागार्जुन : कवि और कथाकर**, रचना प्रकाशन, जयपुर, 1991

(52) सुरेश्वर झा - (संपा.), **मैथिली काव्यक विकास**, साहित्य अकादमी, 1998

(53) सुरेश कुमार - **अनुवाद सिद्धांत की रूपरेखा**, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 1996

(54) सूरजभान सिंह - **अंग्रेजी-हिन्दी अनुवाद व्याकरण**,प्रभात प्रकाशन,दिल्ली, 2003

(55) हरदेव बाहरी - **हिन्दी भाषा**, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, 2000

अंग्रेजी की पुस्तकें

(1) Anand coomarswami & Arun Sen - **VIDYAPATI**, Bhartiya Publishing House, Varansi : Delhi*

(2) Narayan Jha – **The sweetest Love songs of Vidyapati**, Narayan Prakashan Darbhanga, 1994

(3) Radhakrishna Chaudhary, **A Survey of Maithili Litrature**, Darbhanga, 1976

(4) R. S. Gupta - **Literary Translation**, Editor, Creative Books, Naraila, New Delhi - 1999

(5) Raymond Williams - Marxism and Literature, Oxford Universtiy Press, 1977

(6) Shantha Ramakrishna - **Translation and multilingualism : Post- Colonial Context** (ed.), Anurag Jain for Pencraft International, Delhi, 1997

(7) Y.C Bhatnagar - **Theory and Practice of Translation**, Ajanta publication Delhi, 1993

पत्रिकाएँ

1. अनुवाद उर्दू – विशेषांक-65, मुख्य सं. डॉ० गार्गी ग्रुप
2. अंतिका – किनकर छथि विद्यापति? त्रैमासिक, अक्टूबर–दिसम्बर, 1999, अंक:3, सं.– अनलकांत, अक्षर प्रकाशन प्रा. लि., दरियागंज, नई दिल्ली
3. अंतिका – यात्री प्रसंग, अप्रैल–जून–2000, अंक–1, सं.– अनलकांत अक्षर प्र. प्रा. लि., दरियागंज, नई दिल्ली
4. आलोचना – त्रैमासिक सहस्त्राब्दी अंक छह, 2001 – जुलाई–सितम्बर प्रधान सं.–नामवर सिंह, सं.–परमानन्द श्रीवास्तव, राजकमल प्र., नई दिल्ली
5. आलोचना – त्रैमासिक सहस्त्राब्दी अंक-15, 2003 अक्टूबर–दिसम्बर प्रधान सं.–नामवर सिंह, सं.–परमानन्द श्रीवास्तव, राजकमल प्र., नई दिल्ली
6. आलोचना – त्रैमासिक सहस्त्राब्दी अंक-19–20, 2005
7. आजकल – नागार्जुन स्मृति जनवरी 1999 अंक–9, सं. सुभाष सेतिया, प्रकाशन विभाग पटियाला हाउस नई दिल्ली
8. उद्भावना – स्वप्न और यथार्थ का सृजन शिखर पाब्लो नेरूदा :भारतीय संदर्भ, सं.– विष्णु खरे उद्भावना प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली, फरवरी, 2006
9. जनसत्ता – श्रीश चंद्र मिश्र, 9 मई 2008 नई दिल्ली
10. जनसत्ता संपादकीय, दिनांक : 04.05.08, नई दिल्ली
11. परख – मई 2004, संपादक कृष्ण मोहन/प्रियम अंकित,
12. लोर्का – संपादक–प्रभाती नौटियाल, नई दिल्ली प्रतापगढ़, उत्तर प्रदेश